श्रीश्रीचैतन्य महाप्रभुकी स्वयंभगवत्ता

[इस पुस्तकको सम्पूर्ण अथवा इसके किसी अंशको भी प्रकाशित
करने, उद्धृत करने या किसी भी भाषामें अनूदित
करनेका अधिकार सबको है।]

अब तौ हरी नाम लौ लागी।
सब जगको यह माखन-चोरा, नाम धरयौ वैरागी ॥१॥
कित छोड़ी वह मोहन मुरली, कित छोड़ी सब गोपी।
मूँड़ मूँड़ाइ डोरि कटि बाँधी, माथे मोहन टोपी ॥२॥
मात जसोमति माखन-कारन, बाँधे जाके पाँव।
स्यामकिसोर भयो नव गौरा, चैतन्य जाको नाँव ॥३॥
पीताम्बरको भाव दिखावै, कटि कोपीन कसै।
गौर-कृष्णकी दासी मीरा, रसना कृष्ण बसै ॥४॥

प्रकाशक :

श्रीश्रीचैतन्य महाप्रभु पञ्चशती समारोह,

पो० चाकुलिया (सिंहभूम) बिहार-८३२३०१

एवं

श्रीकृष्ण-जन्मस्थान सेवा-संस्थान,

मथुरा-२८१००१

प्रकाशक :

श्रीश्रीचैतन्य महाप्रभु पञ्चशती समारोह
पो० चाकुलिया (सिंहभूम) बिहार-८३२३०१
एवम्
श्रीकृष्ण-जन्मस्थान सेवा-संस्थान,
मथुरा-२८१ ००१

व्रजका खेल कुलेल-मगन-मन।
नदियाका रज-लुण्ठित-तन ॥
व्रजका खेल मुरलिका-वादन।
नदियाका हरिनाम-भजन ॥
व्रजका खेल कुसुम-वन-विहरण।
नदियाका दृग-जल-वर्षण ॥

प्रथम संस्करण : २२०० प्रतियाँ

★

प्रकाशन-तिथि :

श्रीकृष्ण-जन्माष्टमी, संवत् २०४२ वि०
दिनांक : ७ सितम्बर १९८५ ई०

★

मूल्य : बारह रुपये मात्र

मुद्रक :
मयूर प्रेस,
बद्रीनगर, दरेसी रोड,
मथुरा.

प्रकाशकीय

श्रीराधागोविन्द नाथ द्वारा बँगला भाषामें लिखित 'महाप्रभु श्रीगौराङ्ग' प्रथम संस्करण (फाल्गुन श्रीचैतन्याब्द ४७६, बंगाब्द १३६९, मार्च १९६३) क्राउन/आठ पृष्ठ आकारका १२७२ पृष्ठोंका वृहद् ग्रन्थ है, जिसमें महाप्रभुकी लीलाओंसे सम्बन्धित सभी विषयोंका वर्णन है। इस पुस्तकमें उनके उन्हीं अंशोंका हिन्दी अनुवाद दिया गया है, जो उनकी स्वयंभगवत्तासे सम्बन्धित हैं।

मूल ग्रन्थके पञ्चम अध्यायके पृष्ठ २२७, पंक्ति ८ के बाद 'छान्दोग्य श्रुति प्रोक्त हिरण्यमश्रु-हिरण्यकेश' शीर्षकसे पृष्ठ २२९ के नीचेसे पंक्ति ५ के ऊपर तकका अंश आवश्यक न लगनेके कारण छोड़ दिया गया है।

इस ग्रन्थके विस्तारके भयसे मूल ग्रन्थके पञ्चम अध्यायके अनुच्छेद ६ तथा सप्तम अध्याय और अष्टम अध्यायका पूरा अनुवाद न देकर उनका सारांश इसके पञ्चम अध्यायके अनुच्छेद ५ के बाद निम्नलिखित तीन शीर्षकोंके अन्तर्गत शामिल किया गया है—(१) महाप्रभुका ऐश्वर्य, (२) महाप्रभुकी स्वयंभगवत्ता, और (३) महाप्रभुका प्रेम दातृत्व।

मूल ग्रन्थके बारहवें अध्यायका भी केवल सारांश दिया गया है। उसे इस ग्रन्थके चतुर्थ अध्यायके रूपमें दिया गया है। ग्रन्थके इस अंश सहित अन्य सभी अंशोंका मूल ग्रन्थके जिन

अध्याय अथवा अनुच्छेदोंसे सम्बन्ध है, उनका उल्लेख यथास्थान पादटिप्पणीमें कर दिया गया है, जिससे यदि कोई विषयको मूल ग्रन्थमें देखना चाहें तो कठिनाई न हो।

इस पुस्तकमें जिन ग्रन्थोंके सन्दर्भ दिये गये हैं, उनके प्रकाशक अथवा मुद्रकका नाम यथास्थान दे दिया गया है। श्रीमद्भागवत तथा महाभारतके उद्धरण गीता प्रेस, गोरखपुरकी प्रतिसे दिये गये हैं। चैतन्यचरितामृत तथा चैतन्य भागवतके सन्दर्भ श्रीराधागोविन्द नाथ द्वारा सम्पादित बँगला भाषाकी प्रतिसे लिये गये हैं।

आशा है, इसे पढ़नेके बाद श्रीमन्महाप्रभुकी 'स्वयंभगवत्ता' के बारेमें पाठकोंको कोई संदेह नहीं रह जायगा।

वृन्दावनके डॉ० अवध बिहारी लाल कपूरने सामग्री चयन करनेमें जो मार्गदर्शन किया है और अनुवादका संशोधन एवं अध्यायोंका संक्षिप्तीकरण करनेमें जो कष्ट उठाया है उसके लिए हम लोग उनके बहुत आभारी हैं।

—प्रकाशक

श्रीश्रीचैतन्य महाप्रभुकी स्वयंभगवत्ता

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ सं०
मंगलाचरण—	१
१. प्रकटलीलामें श्रीकृष्णकी अपूर्ण वासना	३
(१) पूर्णतम स्वरूपमें वासना किस प्रकार सम्भव है	३
(२) कौन-कौनसी वासनाएँ अपूर्ण	४
क । स्वमाधुर्य आस्वादन-वासना	४
(१) श्रीचैतन्य-चरितामृतकी उक्ति	५
(२) स्वमाधुर्य-आस्वादन-वासना अपूर्ण क्यों	११
ख । श्रीराधा द्वारा श्रीकृष्ण-माधुर्य-आस्वादन-जनित सुखके स्वरूपको जाननेकी वासना	१२
ग । श्रीराधा प्रेमकी महिमा जाननेकी वासना	१४
(३) अपूर्ण वासनात्रयके पूरणका उपाय	१७
क । अन्य एक स्वरूपसे अनादिकालसे श्रीकृष्णका स्व-माधुर्य आदिका आस्वादन	१८
ख । सर्वज्ञता शक्ति उनको यह जनाती क्यों नहीं	१९
२. गौर स्वरूपमें ब्रजेन्द्रनन्दन स्वरूपकी अपूर्ण वासनाओंका पूरण	२१
३. राधाभावकान्ति सुवलित कृष्ण-स्वरूप—पीतवर्ण स्वयंभगवान्	२७
क । एक व्यक्तिका भाव एवं वर्ण दूसरा व्यक्ति किस प्रकार ले सकता है	२७
ख । वर्ण लेनेका क्या प्रयोजन है	३०
ग । वर्ण ग्रहणका उपाय	३४
घ । राधाङ्ग द्वारा श्रीकृष्णका सर्वाङ्ग आच्छादन किस प्रकार सम्भव है	३५

ङ । श्रीराधा उल्लिखित भावसे अपने देह आदि
श्रीकृष्णको क्यों देती हैं ३८
च । पीतवर्ण स्वयंभगवान् ३९

४. **श्रीकृष्णका नामकरण** ४१

क । श्रीकृष्णका नाम-प्रकटन ४१
विवेच्य ४१
व्रजराजका मनोगत अर्थ ४३
गर्गाचार्यजीका अभिप्रेत अर्थ ४४
गृह्णतोऽनुयुगं तनूः ४४
आसन् वर्णास्त्रयो ह्यस्य ४५
इदानीं कृष्णतां गतः ४६
पीतवर्ण स्वयंभगवान् ४८
युगावतार-प्रसंग ४९
ख । वासुदेव-नाम-प्रकटन ५६
व्रजराजका मनोगत अर्थ ५७
गर्गाचार्यजीका अभिप्रेत अर्थ ५७
ग । बहुत-से नाम रूपोंकी कथा-प्रकटन ५८
व्रजराजका मनोगत अर्थ ५८
गर्गाचार्यजीका अभिप्रेत अर्थ ५९
'बहूनि सन्ति नामानि'—इत्यादि (भा १०।८।१५)
श्लोकोक्तिका उद्देश्य ६२
महाभारतमें 'सुवर्ण वर्णो हेमाङ्गः' इत्यादि श्लोक ६५
श्रुति-प्रमाणकी आवश्यकता ६६
**पीतवर्ण स्वयंभगवत्स्वरूपके सम्बन्धमें
श्रुति-प्रमाण** ६८

क। मुण्डक-श्रुति-वाक्य ६८

श्रुतिवाक्यके प्रथमार्द्धके शब्दोंका तात्पर्य ६९

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम् ७३

रुक्मवर्ण पुरुषके दर्शनका फल ७७

श्रुतिवाक्यके द्वितीयार्द्धके शब्दादिका तात्पर्य ७७

ख। मैत्रायणी श्रुति-वाक्य ८१

रुक्मवर्ण स्वयंभगवान्‌की महिमा और असाधारण वैशिष्ठ्य ८३

क। दर्शनमात्रसे असुरत्व-विनाश ८४

ख। असुरत्व-विनाश, असुरका प्राणविनाश नहीं है ८४

ग। दर्शनमात्रसे ही प्रेमदातृत्व ८५

घ। परम-साम्यत्व-दान ८५

ङ। ब्रह्माण्डमें अवतरण ८५

च। ब्रह्माण्डमें अवतरणका उद्देश्य ८६

छ। निर्विचार प्रेम-दातृत्व ८६

श्रीकृष्ण द्वारा प्रेमदानकी रीति ८७

रुक्मवर्ण पुरुषकर्तृक प्रेमदानकी रीति ८८

ज। साङ्गोपाङ्गास्त्रपार्षदत्त्व ८८

उपसंहार ९०

५. 'कृष्णवर्णं त्विषाकृष्णम्' श्लोककी आलोचना ९२

विवेच्य ९३

विशेष लक्षणसे ही वस्तुका परिचय ९३

वर्तमान कलिके अवतारका विशेष लक्षण—छन्नत्व ९४

श्लोक-स्थित शब्दादिकी आलोचना ९६

क । प्रथमार्धकी आलोचना ९६
कृष्णवर्णः ९६
त्विषाकृष्णः ९७
कलियुगमें भगवत्-स्वरूपका प्रत्यक्ष-रूपधारण-
लीलावतार नहीं होता ९८
स्वामीपादकी टीकाका तात्पर्य १०६
कृष्णवर्ण-त्विषाकृष्ण—दोनों शब्दोंकी
आलोचनाका उपसंहार १०९
पीतवर्ण स्वयंभगवान्‌का नित्यत्व ११०
पीतत्वका हेतु—पीतवर्ण श्रीराधाके साथ
एकरूपता ११२
मुण्डक-मैत्रायणी-श्रुति-कथित रुक्मवर्ण स्वयं-
भगवान् ही ये पीतवर्ण स्वयंभगवान् हैं ११५
साङ्गोपाङ्गास्त्रपार्षदः ११६
ख । द्वितीयार्धकी आलोचना ११७
यज्ञैः, संकीर्तनप्रायैः ११७
'कृष्णवर्णं त्विषाकृष्णं' श्लोकका सारमर्म १२१
पीतवर्ण स्वयंभगवान्‌का भक्तभाव १२१
पीतवर्ण स्वयंभगवान् कृष्ण-विषयक प्रेमके
आश्रय-प्रधान स्वरूप १२३
समग्र आलोचनाका सार मर्म १२४
क । मुण्डकश्रुति, मैत्रायणीश्रुति, महाभारत एवं
श्रीमद्भागवतमें पीतवर्ण स्वयंभगवत्-स्वरूप
एक एवं अभिन्न १२५
ख । पीतवर्ण स्वयंभगवान् राधाकृष्ण मिलित स्वरूप १२५
ग । पीतवर्ण स्वयंभगवान् भक्तभावमय १२५

घ। पीतवर्ण स्वयंभगवान् कृष्णविषयक प्रेमके आश्रय-प्रधान स्वरूप १२६
ङ। पीतवर्ण स्वयंभगवान्के दर्शनमात्रसे द्रष्टाके पाप-पुण्यरूप कर्म, यहाँ तक कि असुरत्व पर्यन्त, समूल विनष्ट होते हैं १२६
च। पीतवर्ण स्वयंभगवान् असुरका प्राण-विनाश नहीं करते, असुरत्वका विनाश करते हैं १२६
छ। पीतवर्ण स्वयंभगवान्के दर्शनमात्रसे द्रष्टाको प्रेम लाभ होता है १२६
ज। पीतवर्ण स्वयंभगवान्के दर्शन मात्रसे जो प्रेम प्राप्त करते हैं, उनके दर्शनसे भी दूसरे प्रेम प्राप्त करते हैं १२७
झ। पीतवर्ण स्वयंभगवान्का ब्रह्माण्डमें अवतरण १२७
ञ। पीतवर्ण स्वयंभगवान् कलियुगमें ही अवतीर्ण होते हैं १२७
ट। पीतवर्ण स्वयंभगवान्के ब्रह्माण्डमें अवतरणका हेतु १२७
जगत् सम्बन्धीय हेतु १२८
निज सम्बन्धीय हेतु १२८
ठ। जिस द्वापरमें स्वयंभगवान् श्रीकृष्ण अवतीर्ण होते हैं, उसके अव्यवहित परवर्ती कलियुगमें ही पीतवर्ण स्वयंभगवान्का अवतरण १२९
पीतवर्ण स्वयंभगवान्को गौरकृष्णभी कहाजाता है १३०
६. **श्रीचैतन्यदेवकी पीतवर्ण-स्वयंभगवत्तापर विचार** १३१
१. स्वयंभगवान् श्रीकृष्ण स्वरूपतः द्विभुज, नरवपु, नरलील १३१
२. पीतवर्ण स्वयंभगवान् भी द्विभुज, नरवपु, नरलील १३२

३ ब्रह्माण्डमें अवतीर्ण नरवपु भगवान्‌को पहचान लेना
सबके लिए सम्भव नहीं — १३२
क। जन्मलीलाकी अलौकिकता द्वारा भी भगवान्‌को
जाना नहीं जाता — १३३
४. ब्रह्माण्डमें अवतीर्ण नरवपु भगवान् को जाना
जाता है उनके विशेष लक्षणों द्वारा — १३५
५ श्री चैतन्यदेवका पीतवर्ण-स्वयंभगवत्ता-विचार — १३८
क। वर्ण—पीत या गौर — १३८
ख। दैहिक लक्षण — १३९
(१) न्यग्रोध-परिमण्डल तनु — १३९
(२) महापुरुष-लक्षण — १४३
(३) कर-चरण-चिह्न — १४४
(४) कैशोर। गुल्फ-श्मश्रु-हीनता — १४५
(५) अपहतपाप्नत्व, नीरोगता — १५०
गया-गमनके मार्गमें ज्वर — १५१
गयासे लौटनेके पश्चात प्रेमविकार — १५३
ग। विमृत्युता, मृत्युहीनता — १५६
महाप्रभुका अन्तर्धान, लोचनदास और उड़िया
कवियोंका अभिमत — १५८
महाप्रभुका तिरोभावका समय — १६१
अन्तर्धानके सम्बन्धमें कर्णपूरका अभिमत — १६६
विरुद्ध मतकी आलोचना — १६७
पण्डों द्वारा प्रभुकी हत्या — १७६
जयानन्दका चैतन्यमङ्गल — १७९
घ। उल्लिखित दैहिक लक्षणादि होते हैं भगवत्-स्वरूपके
साधारण लक्षण — १८९

७. श्रीमन्महाप्रभुका ऐश्चर्य १९१
क । शची माँके घरमें १९८
ख । नित्यानन्दके नर्तनमें १९९
ग । श्रीवास पंडितके घर १९९
घ । राघव पंडितके घर २००
८. श्रीमन्महाप्रभुकी स्वयंभगवत्ता २०२
९. श्रीमन्महाप्रभुका प्रेमदातृत्व २०७
(१) नारायणी देवीकी प्रेम-प्राप्ति २०८
(२) शुक्लाम्बर ब्रह्मचारीको प्रेम-प्राप्ति २०८
(३) श्रीगदाधर पंडितको प्रेम-प्राप्ति २०९
(४) मुसलमान दरजीको प्रेम-लाभ २०९
(५) धोबीको प्रेम-दान २०९
(६) दक्षिण देशमें प्रेम-वितरण २११
(७) राय रामानन्दको प्रेम-प्राप्ति २११
(८) राजा प्रतापरुद्र और उनके पुत्रको प्रेम-प्राप्ति २१२
(९) झारिखण्डके जंगलमें पशुओंको प्रेम-दान २१४
(१०) श्रीप्रकाशानन्द सरस्वतीको प्रेम-प्राप्ति २१५
(११) एक कुत्तेकी प्रेम-प्राप्ति २१६

१०. महाप्रभुमें पीतवर्ण स्वयंभगवान्के शास्त्र-कथित अन्यान्य लक्षण २१८

१. महाभारतोक्त लक्षण २१८

क । सुवर्णवर्णः २१८

ख । हेमाङ्गः २२०

ग । वराङ्गः २२१

घ । चन्दनाङ्गदो २२८

ङ । संन्यासकृत २२८

च । शमः २२९

झ । शान्तः २२९

ज । निष्ठा-शान्ति-परायणः २३०

२. महाप्रभु ही महाभारतोक्त नाम समूहके आस्पद हैं २३२

परिशिष्ट २३७

मङ्गलाचरण

अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जन-शलाकया ।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥

मूकं करोति वाचालं पंगुं लंघयते गिरिम् ।
यत्कृपा तमहं वन्दे परमानन्द माधवम् ॥

वाञ्छाकल्पतरुभ्यश्च कृपासिन्धुभ्य एव च ।
पतितानां पावनेभ्यो वैष्णवेभ्यो नमोनमः ॥

स्तुमस्त्वं चैतन्याकृतिमतिविमर्यादपरमाद्-
भुतौदार्यं वयं व्रजपतिकुमारं रसयितुम् ।
विशुद्ध-स्वप्रेमोन्मद-मधुर-पीयूषलहरीं
प्रदातुं चान्येभ्यः परपद-नवद्वीप-प्रकटम् ॥

वन्दे श्रीकृष्णचैतन्य-नित्यानन्द-सहोदितौ ।
गौड़ोदये पुष्पवन्तौ चित्रौ शन्दौ तमोनुदौ ॥

आजानुलम्बितभुजौ कनकावदातौ
सङ्कीर्तनैकपितरौ कमलायताक्षौ ।
विश्वम्भरौ द्विजवरौ युगधर्मपालौ
वन्दे जगत्प्रियकरौ करुणावतारौ ॥

जय रूप-सनातन भट्ट रघुनाथ।
श्रीजीव गोपालभट्ट दास रघुनाथ॥
एइ छय गोसाञिर करि चरण-वन्दन।
जाहा हैते विघ्न-नाश अभीष्ट-पूरण॥
गुरु कृष्ण वैष्णव—एइ तिनेर स्मरण।
तिनेर स्मरणे हय विघ्न-विनाशन॥

श्रीराधायाः प्रणयमहिमा कीदृशो वानयैवा-
स्वाद्यो येनाद्‌भुतमधुरिमा कीदृशो वा मदीयः।
सौख्यं चास्या मदनुभवतः कीदृशं वेति लोभात्
तद्‌भावाढ्यः समजनि शचीगर्भसिन्धौ हरीन्दुः॥

श्रीस्वरूप गोस्वामीका कड़चा

अर्थ—श्रीराधाका प्रेम-माहात्म्य किस प्रकारका है, इस प्रेमके द्वारा श्रीराधा मेरा जो अद्‌भुत-माधुर्य आस्वादन करती हैं, वह माधुर्य किस प्रकारका है एवं मेरा माधुर्य आस्वादन करके श्रीराधाको जो सुख मिलता है, वह सुख किस प्रकारका है—इन सब विषयोंसे लोभवश श्रीराधाके भावाढ्य होकर कृष्ण-चन्द्र शची-गर्भ-सिन्धुसे आविर्भूत हुए हैं।

प्रकटलीलामें श्रीकृष्णकी अपूर्ण वासना*

ब्रह्माण्डमें अवतीर्ण होकर श्रीकृष्णने यथेच्छ भावसे लीलारसका आस्वादन किया ; किन्तु उनकी कोई-कोई वासना अपूर्ण रह गयी। प्रकट-व्रजलीलामें उन अपूर्ण वासनाओंके पूर्ण होनेकी सम्भावना नहीं थी।

क। पूर्णतम स्वरूपमें वासना किस प्रकार सम्भव है— प्रश्न हो सकता है कि श्रीकृष्ण हैं परब्रह्म, पूर्णतम स्वरूप। पूर्णतम स्वरूप श्रीकृष्णमें किसी प्रकारका अभाव तो है नहीं। फिर उनकी वासना कैसी ? श्रुतिने भी कहा है—"आप्तकामस्य का स्पृहा ?"

इस सम्बन्धमें वक्तव्य इस प्रकार है। पूर्णतम तत्त्व श्रीकृष्ण रसस्वरूप भी हैं। रसस्वरूप होनेके कारण उनकी रस-आस्वादन-वासना अवश्य ही रहेगी ; रस-आस्वादनकी वासना हुए बिना रसका आस्वादन नहीं होता। इसलिए 'सोऽकामयत' इत्यादि वाक्यमें श्रुतिने भी उनकी कामनाकी बात कही है। सृष्टिलीलाके प्रसंगमें यह बात कही गयी है, तो भी सब लीलाओंपर लागू होती है। इस प्रकारकी वासना उनकी अपूर्णताका नहीं, रसस्वरूपताका परिचय देती है। यह अभाव-जनित वासना नहीं है, अतएव पूर्णताकी हानिकी द्योतक नहीं है ; यह है उनके रसस्वरूपत्वकी स्वभावगत वासना। लीला आस्वादनके प्रकार-भेदसे लीलाशक्ति उनकी इस वासनाको विभिन्न भावसे प्रकट करती है। गोलोकमें भी

---

* महाप्रभु श्रीगौराङ्गके पहिले अध्यायका १८वाँ अनुच्छेद.

वे पूर्णतम-स्वरूप एवं रस-स्वरूप हैं। तथापि गोलोककी लीलामें सब प्रकारकी रसवैचित्रीका आस्वादन नहीं करते। इससे उनके पूर्णतम रसस्वरूपत्वकी हानि नहीं होती। प्रकटमें अथवा अप्रकटमें किसी भी धाममें वे सब प्रकारकी रसवैचित्रीका आस्वादन नहीं करते। प्रकट लीलामें भी व्रजेन्द्रनन्दनके लिए जिस रसका आस्वादन सम्भव नहीं, लीलाशक्तिने उनमें उसी रसके आस्वादनकी वासना जाग्रत की ; किन्तु उस समय उस वासनाका पूर्ण होना सम्भव न होनेके कारण वह वासना अपूर्ण रही। वह कौन-सी वासना है, यह क्रमसे बताया जा रहा है।

कौन-कौनसी वासनाएँ अपूर्ण*

क। स्वमाधुर्य आस्वादन-वासना—रसिकशेखर श्रीकृष्ण स्वरूपानन्द आस्वादन करते हैं और शक्ति आनन्द भी। वे चिदानन्द-स्वरूप हैं ; उनके स्वरूपभूत चिदानन्दका आस्वादन ही है उनका स्व-रूपानन्द आस्वादन। उनके स्वरूपभूत आनन्दकी अनेक वैचित्री है ; उनका रूप भी उनके स्वरूपभूत आनन्दकी एक वैचित्री है। उनका रूप उन्हें स्वयंको भी विस्मयोत्पादक है। 'विस्मापनं स्वस्य च (भा. ३।२।१२)।' पहिले जिसका आस्वादन किया जा चुका है, उसके दर्शनसे साधारणतया किसीको भी विस्मय उत्पन्न नहीं होता ; अनास्वादित-पूर्व वस्तुके दर्शनसे ही विस्मय उत्पन्न होता है एवं यथायथ भावसे उसके आस्वादनके लिए वासना भी उत्पन्न होती है। श्रीकृष्ण-स्वरूपका अद्भुत स्वभाव यह है कि जब भी वह दृष्टिके सामने आता है, तभी मनमें होता है कि ऐसा रूप तो पहिले कभी नहीं देखा। उनके रूपका माधुर्य नित्य होते हुए भी नित्य

---

* महाप्रभु श्रीगौराङ्गके पहिले अध्यायका १९वाँ अनुच्छेद.

नवनवायमान है। श्रीकृष्णकी वाणीसे ही कविराज गोस्वामीने यह व्यक्त किया है—

आमार माधुर्य नित्य नव-नव हय ॥

श्रीकृष्णका—

आपन माधुर्य्य हरे आपनार मन।
आपने आपना चाहे करिते आलिङ्गन ॥

चै. च. म. ८।११४

किन्तु उनके इस अपने माधुर्यके आस्वादनकी वासनाकी पूर्ति उनके व्रजेन्द्र-नन्दन स्वरूपके लिए सम्भव नहीं; क्योंकि श्रीकृष्ण माधुर्य आस्वादनका एकमात्र उपाय है प्रेम—श्रीकृष्ण-विषयक प्रेम।

प्रौढ़ निर्मल भाव प्रेम सर्वोत्तम।
कृष्णेर माधुरी आस्वादनेर कारण ॥

चै. च. आ. ४।४४

श्रीकृष्णके मुखसे कविराज गोस्वामीने भी कहलाया है—

आमार माधुर्य नित्य नव-नव हय।
स्व-स्व प्रेम अनुरूप भक्ते आस्वादय ॥

चै. च. आ. ४।१२५

किन्तु व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णके मध्य श्रीकृष्ण-विषयक प्रेम नहीं है, हो भी नहीं सकता। उनके परिकर-भक्तगणोंमें ही श्रीकृष्ण-विषयक प्रेम रहता है; वे कृष्णविषयक प्रेमके आश्रय हैं, और श्रीकृष्ण उस प्रेमके विषय मात्र हैं। अतएव श्रीकृष्णके लिए स्वमाधुर्य आस्वादन सम्भव नहीं है, तथापि आस्वादनकी वासना है। व्रजकी प्रकटलीलामें उनकी यह वासना अपूर्ण रहती है।

(१) श्रीचैतन्य-चरितामृतकी उक्ति— स्वमाधुर्य आस्वादन-के लिए श्रीकृष्णलीलाके सम्बन्धमें श्रीकृष्णके मुखसे कविराज

गोस्वामीने जो व्यक्त करवाया है, उसको यहाँ उद्धृत किया जा रहा है—

कृष्णेर विचार एक रहे अन्तरे—।
पूर्णानन्द—पूर्ण-रस-रूप कहे मोरे ।।
आमा हैते आनन्दित हय त्रिभुवन।
आमाके आनन्द दिबे ऐछे कोन् जन ।।
आमा हैते जार हय शत शत गुण।
सेइ जन आह्लादिते पारे मोर मन ।।
आमा हैते गुणी बड़ जगते असम्भव।
एकलि राधाते ताहा करि अनुभव ।।
कोटि काम जिनि रूप यद्यपि आमार।
असमोर्द्ध माधुर्य—साम्य नाहि जार ।।
मोर रूपे आप्यायित हय त्रिभुवन।
राधार दर्शने मोर जुड़ाय नयन ।।
मोर वंशी-गीते आकर्षये त्रिभुवन।
राधा वचने हरे आमार श्रवण ।।
यद्यपि आमार गन्धे जगत सुगन्ध।
मोर चित्त-प्राण हरे राधा-अङ्ग-गन्ध ।।
यद्यपि आमार रसे जगत सरस।
राधार अधर-रस आमा करे वश ।।
यद्यपि आमार स्पर्श कोटीन्दु-शीतल।
राधिका स्पर्शे आमा करे सुशीतल ।।
एइ-मत जगतेर सुखे आमि हेतु।
राधिकार रूप-गुण आमार जीवातु ।।
एइ-रूप अनुभव आमार प्रतीत।
विचारि देखिये यदि—सब विपरीत ।।

राधार दर्शने मोर जुड़ाय नयन।
आमार दर्शने राधा सुखे अगेयान॥
परस्पर वेणु-गीते हरये चेतन।
मोर भ्रमे तमालेर करे आलिङ्गन॥
'कृष्ण-आलिङ्गन पाइनु, जनम सफले'।
सेइ सुखे मग्न रहे वृक्ष करि कोले॥
अनुकूल वाते यदि पाय मोर गन्ध।
उड़िया पड़िते चाहे, प्रेमे हञा अन्ध॥
ताम्बूल-चर्वित जबे करे आस्वादने।
आनन्द-समुद्रे मग्न—किछुइ ना जाने॥
आमार सङ्गमे राधा पाय जे आनन्द।
शतमुखे कहि यदि, नाहि पाइ अन्त॥
लीला-अन्ते सुखे इहार जे अङ्ग-माधुरी।
ताहा देखि सुखे आमि-आपना पासरि॥
दोंहार जे सम रस—भरत मुनि माने।
आमार व्रजेर रस सेहों नाहि जाने॥
अन्योन्य-सङ्गमे आमि जत सुख पाइ।
ताहा हैते राधा-सुख शत अधिकाइ॥
ताते जानि, मोते आछे कोन् एक रस।
आमार मोहिनी राधा, तारे करे वश॥
आमा हैते राधा पाय जे जातीय सुख।
ताहा आस्वादिते आमि सदाइ उन्मुख॥
नाना यत्न करि आमि, नारि आस्वादिते।
से सुख-माधुर्य-घ्राणे लोभ बाढ़े चिते॥

चै. च. आ. ४।१९५-२१८

व्रजमें श्रीकृष्ण नरलील, नर-अभिमान युक्त हैं। वे आनन्द-स्वरूप, रसरूप, पूर्णतम-स्वरूप, परब्रह्म स्वयंभगवान् हैं, सर्वज्ञ हैं—व्रजलीलामें श्रीकृष्ण यह मनमें नहीं लाते ; वे मानते हैं कि वे नन्द-यशोदाकी सन्तान हैं। किन्तु अपनेको इस प्रकार माननेपर भी वे स्वयंभगवान् एवं सर्वज्ञ हैं—यह मिथ्या नहीं है। उनकी सर्वज्ञता-शक्ति उनमें नित्य विराजित है। लीलाके अनुरोधसे उनकी सर्वज्ञता-शक्ति, जब जो जानना आवश्यक है, तब वह उनको अज्ञातरूपसे जना देती है। सर्वज्ञता-शक्तिके प्रभावसे जब वे कुछ जानते हैं, तब भी उनका नर-अभिमान अक्षुण्ण रहता है ; किस प्रकार जानते हैं—लीलाशक्तिके प्रभावसे यह अनुसन्धान उनके चित्तमें नहीं जागता। इसी प्रकार सर्वज्ञता-शक्तिके प्रभावसे वे जान सके—"पूर्णानन्द-पूर्णस्वरूप कहे मोरे।" उसके अनुसार ही उन्होंने मन-ही-मन जो विचार किया, उसका सारमर्म नीचे प्रकाशित किया जा रहा है।

"मैं पूर्ण आनन्द, पूर्ण रस हूँ। मैं ही सबको आनन्द दे सकता हूँ (श्रुति भी कहती है—**एषोहि एव आनन्दयाति**), किन्तु मुझे कोई भी आनन्द नहीं दे सकता। जिसमें मेरी अपेक्षा शत-शत गुणा अधिक गुण हो, वही मुझे आनन्द दे सकता है ; किन्तु मेरी अपेक्षा अधिक गुणशाली कोई भी नहीं है। एकमात्र श्रीराधामें उसका व्यतिक्रम देखता हूँ। यद्यपि मेरा रूप-माधुर्य सबको आप्यायित करता है, मेरे नयन आप्यायित होते हैं श्रीराधाके रूप-दर्शनसे। मेरी वंशी-ध्वनिसे त्रिजगत आकृष्ट होता है ; किन्तु श्रीराधाके कण्ठस्वरका माधुर्य मेरा कर्णरसायन है। मेरी अङ्ग-गन्धसे सारा जगत सुगन्धित होता है ; किन्तु श्रीराधाकी अङ्गगन्ध मेरे चित्त-प्राणको हरण करती है। मेरे पूर्ण-रसस्वरूप होनेके कारण मेरे रससे ही जगत् सरस होता है ;

किन्तु श्रीराधाका अधर-रस मुझे उनके वशीभूत कर डालता है। यद्यपि मेरा अङ्गस्पर्श कोटि-कोटि चन्द्रसे भी सुशीतल है, श्रीराधाके अङ्गस्पर्शसे मैं भी सुशीतल होता हूँ।

इस प्रकार देखा जाता है कि यद्यपि मेरे रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्द जगत्के सुखके हेतु है, तथापि श्रीराधाके रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्द मेरा जीवन हैं। अतएव मेरी अपेक्षा भी श्रीराधा सर्वतोभावसे उत्कर्षमयी हैं—यही मेरा विश्वास है। किन्तु यदि तटस्थ होकर विचार किया जाय, तो समझमें आ सकता है कि जो उत्कर्ष श्रीराधामें नहीं है, वह मुझमें है। मुझमें श्रीराधाकी अपेक्षा अत्यधिक उत्कर्ष वर्तमान है, इसका प्रमाण तटस्थ विचारसे मुझे प्रत्यक्ष है।

मेरे दर्शनसे श्रीराधा सुखमें संज्ञाहीन हो जाती है; मेरे दर्शनकी बात तो दूर, मेरे वर्णके साथ किंचित् सादृश्य है जिस तरुण तमालमें, उस तरुण तमालके दर्शन प्राप्त होते ही श्रीराधा मानती हैं, मानो मेरा ही दर्शन पाया है, एवं इस प्रकार मानकर तरुण-तमालको आलिङ्गन करके अपना जन्म सफल मानती हैं, उसी आलिङ्गन-जनित सुखसे संज्ञाहीन होकर तमालको आलिङ्गन किये रहती हैं, आलिङ्गन-सुखमें निमग्न रहती हैं। किन्तु श्रीराधाके वर्ण सदृश किसी विशिष्ठ वस्तुको देखकर मेरी तो ऐसी अवस्था होती नहीं, स्वयं राधाके दर्शन पानेसे मेरे नयन तृप्तमात्र होते हैं, मैं सुखमें संज्ञाहीन तो होता नहीं। मेरा कण्ठ स्वर, अथवा मेरी वंशी-ध्वनिकी बात तो दूर, वेणुनामके दो बांसके टुकड़ोंके संघर्षसे मेरी वंशीध्वनि जैसा जो क्षीण शब्द होता है, उसे सुनकर आनन्दातिशय्यसे श्रीराधा चेतना खोयी हुई-सी हो जाती हैं। श्रीराधाका कण्ठ-स्वर मेरा कर्ण-रसायन हैं, पर उससे मैं चेतन-हारा तो नहीं

होता। अनुकूल पवनसे ले जायी जाकर मेरी अङ्गगन्ध यदि श्रीराधाके नासा-छिद्रमें प्रवेश करे, तो जिस तरफसे मेरी अङ्गगन्ध आती है, उसी तरफ श्रीराधा प्रेमोद्रेकसे ऐसी अन्धप्राय होकर दौड़ती हैं, मानो उड़ी जा रही हों। किन्तु उनकी अङ्गगन्धसे मेरी तो ऐसी दशा होती नहीं, मेरे चित्त प्राण केवल खोये-से रहते हैं। श्रीराधा जब मेरे चर्वित ताम्बूलका आस्वादन करती हैं, तब चर्वित ताम्बूलके साथ मिश्रित मेरे अधर-रसके आस्वादनसे वे आनन्द-समुद्रमें निमग्न होकर संज्ञाहीन हो जाती हैं। किन्तु साक्षात् रूपसे श्रीराधाका अधर-रस पान करनेपर भी मेरी तो ऐसी अवस्था होती नहीं, मैं केवल उसके वशीभूत-सा हो जाता हूँ।

इस प्रकार देखा जाता है कि श्रीराधाके रूप-रस-गन्ध आदिके आस्वादनमें मैं जो आनन्द प्राप्त करता हूँ, मेरे रूप-रसादिके आस्वादनसे श्रीराधा उसकी अपेक्षा कोटिगुणा अधिक आनन्द पाती हैं। और मुझसे जब राधा मिलती है, तब परस्परके मिलनसे हम दोनों ही आनन्द प्राप्त करते हैं, यह सत्य है; किन्तु मुझे जो आनन्द मिलता है, उसकी अपेक्षा श्रीराधाका आनन्द कोटि-कोटि गुणा अधिक है। मिलन-लीलाके बाद श्रीराधाके अङ्गमें सुख-आस्वादन-जनित जो माधुर्य-लहरी तरङ्गायित होती है, उसीसे समझ सकता हूँ कि श्रीराधाका मिलन-सुख मेरे मिलन-सुखकी अपेक्षा अनन्तगुणा अधिक है; मेरे अङ्गमें तो वैसी माधुर्य-लहरी दिखायी नहीं पड़ती। उनके अङ्गकी माधुर्य-लहरी देखकर मैं सुखसे आत्म-विस्मृत हो जाता हूँ।

इन सब कारणोंसे मैं समझ सका हूँ कि मुझमें ऐसा एक रस है, ऐसी एक आस्वाद्य वस्तु है, जो मुझ

जगमोहनको भी मोहन करनेवाली श्रीराधाको वशीभूत करती है, श्रीराधामें उल्लिखित रूपसे अद्भुत अनिर्वचनीय अवस्था उत्पन्न करती है। मुझसे श्रीराधा जिस जातिका सुख पाती हैं, उसके आस्वादनके लिए मैं सदा ही लालायित रहता हूँ; श्रीराधाके प्रत्येक अङ्गमें तरंगायित माधुर्य-लहरी देखकर मेरी यह लालसा घृत-आहुति-प्राप्त अग्नि-शिखाकी तरह क्रमशः बढ़ती रहती है। किन्तु शत चेष्टा करके भी मैं उसका आस्वादन नहीं कर पा रहा हूँ।—"से-सुख-माधुर्यघ्राणे लोभ बाढ़े चिते।"

इस तटस्थ विचारसे श्रीकृष्णने निश्चय किया कि उत्कर्ष श्रीराधामें नहीं है, उत्कर्ष है उनके अपने मध्य। उनके स्वयंमें ऐसा एक रस है, जिससे उन्हें वशमें करनेवाली श्रीराधा भी वशीभूत होती हैं। किन्तु वह रस क्या है? वह है श्रीकृष्णका माधुर्य रस।

अपूर्व माधुरी कृष्णेर, अपूर्व तार बल।
जाहार श्रवणे मन हय टलमल॥
कृष्णेर माधुरी कृष्णे उपजाय लोभ।
सम्यक् आस्वादिते नारे, मने रहे क्षोभ॥

चै. च. आ. ४।१३४,१३५

(२) स्वमाधुर्य-आस्वादन-वासना अपूर्ण क्यों— पहिले ही कहा जा चुका है कि श्रीकृष्ण-माधुर्य-आस्वादनका एकमात्र उपाय है श्रीकृष्ण विषयक प्रेम। यह प्रेम जिसमें जिस परिमाणमें विकसित है, वह उसी परिमाणमें कृष्णमाधुर्य आस्वादन कर सकता है। जिसमें इस प्रेमका सर्वातिशायी विकास है, वह ही श्रीकृष्णमाधुर्य सर्वातिशायी रूपसे आस्वादन कर सकता है।

श्रीकृष्ण-विषयक प्रेमका सर्वातिशायी विकास है श्रीराधामें; इस सर्वातिशायी विकासमय प्रेमस्तरका नाम है

मादन। मादन है ह्लादिनीका सारतम परिणाम, परात्पर ; मादनमें समस्त प्रेमस्तर विराजित हैं ; मादन जब उच्छ्वसित होता है तब समस्त प्रेमस्तर युगपत उच्छ्वसित होते हैं। यह सर्वदा श्रीराधामें ही विराजित है, अन्य किसीमें नहीं, श्रीकृष्णमें भी नहीं।

सर्वभावोद्गमोल्लासी मादनोऽयं परात्परः।
राजते ह्लादिनीसारो राधायामेव यः सदा॥

उ. नी. स्थायि. २१९॥

मादनाख्य प्रेमकी श्रीराधा हैं एकमात्र आश्रय—परम आश्रय ; और श्रीकृष्ण हैं इसके केवल विषय ; मादन-प्रेमके प्रभावसे एकमात्र (अकेली) श्रीराधा ही श्रीकृष्णका माधुर्य पूर्णतम रूपसे आस्वादन करती हैं। श्रीकृष्णमें मादन होनेके कारण वे अपना माधुर्य आस्वादन नहीं कर सकते। यही बात श्रीकृष्णकी ओरसे कविराज गोस्वामीने प्रकाश की है—

सेइ प्रेमार श्रीराधिका 'परम आश्रय'।
सेइ प्रेमार आमि हइ 'केवल विषय'॥
अद्भुत अनन्त पूर्ण मोर मधुरिमा।
त्रिजगते इहार केहो नाहि पाय सीमा॥
एइ-प्रेमद्वारे नित्य राधिका एकलि।
आमार माधुर्यामृत आस्वादे सकलि॥

चै. च. आ. ४।११४,१२०,१२१

यही है श्रीकृष्णकी **स्वमाधुर्य आस्वादन वासनाकी अपूर्णताका हेतु।**

ख। श्रीराधा द्वारा श्रीकृष्ण-माधुर्य आस्वादन-जनित सुखके स्वरूपको जाननेकी वासना— शूलरोगीकी शूल-यन्त्रणा कैसी तीव्र होती है, वह केवल शूलरोगी ही जान सकता

है। यन्त्रणाके समय उसकी अवस्था देख दूसरे लोग समझ सकते हैं कि उसकी यन्त्रणा तीव्र है; किन्तु उस तीव्रताका स्वरूप कैसा है, वह दूसरे—यहाँ तक कि चिकित्सक भी—नहीं समझ सकते। दुःखकी तरह सुखकी भी अनेक वैचित्री है एवं उस सुख-वैचित्रीके आस्वादनमें जो आनन्द या परितृप्ति है, उसकी भी अनेक वैचित्री हैं; वह भी केवलमात्र आस्वादक ही जान सकता है, दूसरे कोई नहीं जान सकते। चीनी, गुड़, मिश्री, सन्देश, रसगुल्ला आदि मिष्ट द्रव्यका मिष्टत्व एक-सा नहीं होता, भिन्न-भिन्न प्रकारका होता है; उनके आस्वादनमें जो परितृप्ति है, वह भी एक-सी नहीं होती। किन्तु केवल आस्वादक ही उसका अनुभव कर सकता है, दूसरा कोई नहीं। आस्वादकके मुखकी अवस्था, और उसके तृप्ति-ज्ञापक वाक्यादिसे उसकी परितृप्तिकी वैचित्रीमात्र दूसरे समझ सकते हैं; किन्तु दूसरे उस वैचित्रीके स्वरूपकी उपलब्धि नहीं कर सकते।

श्रीकृष्णका माधुर्य पूर्णतम रूपसे आस्वादन कर श्रीराधा जो आनन्द पाती हैं, वह अत्यन्त अधिक है, केवल इतना ही श्रीकृष्ण समझ सकते हैं; किन्तु श्रीराधाके उस सुखका स्वरूप क्या है, वह सुख किस प्रकारका है—यह श्रीकृष्ण उपलब्ध नहीं कर सकते। उस सुखका स्वरूप अनुभव करनेके लिए ही श्रीकृष्णकी बलवती वासना जागती है एवं वह वासना भी उत्तरोत्तर बढ़ती है; किन्तु माधुर्यके आस्वादनके बिना माधुर्य-आस्वादन-जनित सुखके स्वरूपका अनुभव सम्भव नहीं। श्रीकृष्णके लिए स्व-माधुर्यका आस्वादन सम्भव न होनेके कारण स्वमाधुर्य जनित सुखके स्वरूपके अनुभवकी उनकी वासना भी अपूर्ण रहती है।

ग । श्रीराधा प्रेमकी महिमा जाननेकी वासना—जिस प्रेमके प्रभावसे श्रीराधा श्रीकृष्णका असमोर्ध्व माधुर्य सम्यक् रूपसे आस्वादन करतीं हैं एवं आस्वादन-जनित अपरिसीम आनन्दका अनुभव करतीं हैं, उस प्रेमकी महिमा जाननेके लिए श्रीकृष्णको लोभ उत्पन्न होता है।

अवश्य ही श्रीकृष्ण-माधुर्यका आस्वादन एवं आस्वादन-जनित आनन्द भी श्रीराधा-प्रेमकी महिमाका ज्ञापक है ; क्योंकि प्रेमके प्रभावसे ही आस्वादन एवं आस्वादन-जनित सुख होता है। परन्तु इसके अतिरिक्त राधाप्रेमकी एक और महिमा है—प्रेमका अनिर्वचनीय आस्वाद्यत्व और प्रभाव।

प्रेम है ह्लादिनीकी वृत्ति ; ह्लादिनी है आनन्द-रूपा। अतएव प्रेम भी आनन्द-रूप है। श्रीकृष्ण विषयक रति ही गाढ़त्व प्राप्त करते-करते क्रमश: प्रेम, स्नेह, मान, प्रणय आदि स्तरोंमें परिणत होती है। श्रीकृष्णविषया रति ह्लादिनी शक्तिकी वृत्ति होनेके कारण आनन्दरूपा है। "रतिरानन्दरूपैव॥ भ. र. सि. २।१।६॥" इक्षुरस जैसे-जैसे गाढ़ा होता जाता है, वैसे उसका मीठापन भी क्रमश: बढ़ता रहता है, उसी प्रकार रति भी गाढ़त्व प्राप्त करते-करते क्रमश: अधिकतर आस्वाद्यता प्राप्त करती है। श्रीकृष्ण-विषयक प्रेमकी गाढ़तम अवस्था है श्रीराधाका मादनाख्य प्रेम ; अतएव श्रीराधाके मादनाख्य प्रेमका आस्वाद्यत्व या माधुर्य सर्वातिशायी है, इसमें सन्देह नहीं।

श्रीराधा हैं इस मादनाख्य प्रेमका एकमात्र आश्रय, श्रीकृष्ण उसके केवल विषय। श्रीकृष्ण इसके आश्रय नहीं है। विषय एवं आश्रय—दोनों ही इस प्रेमकी आस्वाद्यता या माधुर्यका अनुभव करते हैं ; किन्तु विषयकी अपेक्षा आश्रयका आनन्द—प्रेम माधुर्यका आस्वादन जनित आनन्द—बहुत अधिक होता

है ; क्योंकि विषयकी अपेक्षा आश्रयके ऊपर ही वस्तुका प्रभाव अधिक विस्तारित होता है। एक दृष्टान्तके द्वारा इसको स्पष्ट किया जा रहा है।

गाँवोंमें मिट्टीके पात्रमें अग्नि रक्खी जाती है ; मिट्टीका पात्र हुआ अग्निका आश्रय। शीतकालमें लोग उस अग्निपात्रके आस-पास बैठकर तापते हैं, अग्निके तापका अनुभव करते हैं ; ये लोग हुए अग्निके विषय। अग्निके प्रभावसे मिट्टीका पात्र भी उत्तप्त होता है, लोग भी उत्तप्त होते हैं ; किन्तु मिट्टीका पात्र इतना उत्तप्त होता है कि उसके नीचे हाथ नहीं दिया जाता। लोगोंके शरीरमें जो ताप लगता है, वह वैसा नहीं होता। इससे देखा गया कि वस्तुका प्रभाव विषयकी अपेक्षा आश्रयके ऊपर ही अधिक परिमाणमें सञ्चारित होता है।

इसी प्रकार श्रीराधा-प्रेमका माधुर्य या आस्वादकता विषयरूपसे श्रीकृष्ण जिस प्रकार अनुभव करते हैं, आश्रयरूपसे श्रीराधाका अनुभव उसकी अपेक्षा बहुत अधिक है। आश्रयरूपसे श्रीराधा उनका प्रेममाधुर्य जिस रूपसे आस्वादन करती हैं, उसी प्रकारके भावसे राधा-प्रेमके माधुर्यका आस्वादन करनेके लिए भी श्रीकृष्णकी वासना जागती है।

इस तथ्यको श्रीकृष्णके मुखसे कविराज गोस्वामीने इस प्रकार प्रकाश किया है—

> कृष्ण कहे—आमि हइ रसेर निधान॥
>
> पूर्णानन्दमय आमि चिन्मय पूर्णतत्त्व।
> राधिकार प्रेमे आमा कराय उन्मत्त॥
>
> ना जानि राधार प्रेमे आछे कत बल।
> जे प्रेमे आमारे करे सर्वदा विह्वल॥

राधिकार प्रेम—गुरु, आमि—शिष्य नट।
सदा आमाय नाना नृत्ये नाचाय उद्भट ॥
निज-प्रेमास्वादे मोर हय जे आह्लाद।
ताहा हते कोटिगुण राधा-प्रेमास्वाद ॥
आमि जैछे परस्पर विरुद्ध धर्माश्रय।
राधा-प्रेम तैछे सदा विरुद्ध-धर्ममय ॥
राधाप्रेम विभु—जार बाढ़िते नाहि ठाञि।
तथापि से क्षणे क्षणे बाढ़ये सदाइ ॥
जाहा बइ गुरु वस्तु नाहि सुनिश्चित।
तथापि गुरुर धर्म गौरव-वर्जित ॥
जाहा हैते सुनिर्मल द्वितीय नाहि आर।
तथापि सर्वदा वाम्य-वक्र-व्यवहार ॥
सेइ प्रेमार श्रीराधिका 'परम-आश्रय'।
सेइ प्रेमार आमि हइ केवल 'विषय' ॥
विषय-जातीय सुख आमार आस्वाद।
आमा हैते कोटिगुण आश्रयेर आह्लाद ॥
आश्रय-जातीय सुख पाइते मन धाय।
यत्ने आस्वादिते नारि, कि करि उपाय ॥
कभु यदि एइ प्रेमार हइये आश्रय।
तबे एइ प्रेमानन्देर अनुभव हय ॥
एत चिन्ति रहे कृष्ण परमकौतुकी।
हृदये बाढये प्रेमलोभ धक्धकी ॥

चै. च. आ. ४।१०५-११८

इस प्रकार देखा गया कि व्रजलीलामें श्रीकृष्णकी तीन अपूर्ण वासनाएँ रहीं—स्वमाधुर्य-आस्वादन करनेकी वासना, श्रीराधा-

द्वारा कृष्णमाधुर्य-आस्वादन जनित सुखके स्वरूपको जाननेकी वासना एवं श्रीराधाप्रेमकी महिमा जाननेकी वासना।

अपूर्ण वासनात्रयके पूरणका उपाय*

श्रीराधाप्रेमानन्दके आस्वादनके उपायके सम्बन्धमें श्रीकृष्णने कहा है—

कभु यदि एइ प्रेमार हइये आश्रय।
तबे एइ प्रेमानन्देर अनुभव हय॥

चै. च. आ. ४।११७

स्वमाधुर्य-आस्वादनके उपायके सम्बन्धमें श्रीकृष्णने कहा—

दर्पणाद्ये देखि यदि आपन माधुरी।
आस्वादिते लोभ हय, आस्वादिते नारि॥
विचार करिये यदि आस्वाद-उपाय।
राधिका-स्वरूप हैते तबे मन धाय॥

चै. च. आ. ४।१२६,१२७

सामग्रिक भावसे वाञ्छा-त्रय-पूरणके उपायके सम्बन्धमें उनने कहा है—

आमा हैते राधा पाय जे जातीय सुख।
ताहा आस्वादिते आमि सदाइ उन्मुख॥
नाना यत्न करि आमि, नारि आस्वादिते।
से सुखमाधुर्य घ्राणे लोभ बाढ़े चिते॥
रस आस्वादिते आमि कैल अवतार।
प्रेमरस आस्वादिल विविध प्रकार॥

---

* महाप्रभु श्रीगौराङ्गके पहिले अध्यायका २०वाँ अनुच्छेद.

रागमार्गे भक्त भक्ति करे जे प्रकारे।
ताहा शिखाइल लीला आचरण-द्वारे॥
एइ तिन तृष्णा मोर नहिल पूरण।
विजातीय भावे नहे ताहा आस्वादन॥
राधिकार भाव कान्ति अङ्गीकार बिने।
सेइ तिन सुख कभु नहे आस्वादने॥
राधाभाव अङ्गी-करि—धरि तार वर्ण।
तिन सुख आस्वादिते हब अवतीर्ण॥

चै. च. आ. ४।२१७-२२३

जिन तीन सुखोंके आस्वादनके लिए श्रीकृष्णकी बलवती वासना है, उनका श्रीराधा ही पूर्णतम रूपसे आस्वादन करती हैं। श्रीराधा उन तीनों सुखोंका पूर्णतम रूपसे आस्वादन करती हैं; अपने मादनाख्य प्रेमके प्रभावसे मादनका आश्रय होनेके कारण ही वे यह कर सकती हैं; मादनके विषयके लिए ऐसा संभव न होनेके कारण श्रीकृष्णने सोचा कि यदि वे श्रीराधाके मादनाख्य प्रेमका आश्रय हो सकें, तब उनकी अपूर्ण वासना पूर्ण हो सकती है। मादनाख्यका आश्रय होनेका अर्थ है राधिका-स्वरूप होना। मादन है श्रीराधिका स्वरूप वैशिष्ठ्य। श्रीराधाका भाव अर्थात् मादनाख्यप्रेम अङ्गीकार करना, श्रीराधिकाका वर्ण—हेमगौराङ्गी श्रीराधाका हेम-गौर वर्ण धारण करके, राधिका-स्वरूप होनेसे ही अपूर्ण तीन वासनाओंकी पूर्ति सम्भव हो सकती है। अतएव श्रीकृष्णके लिए श्रीराधाकी भावकान्ति अङ्गीकार करना ही है उनकी अपूर्ण वासनात्रय-पूर्तिका एकमात्र उपाय।

क। अन्य एक स्वरूपसे अनादिकालसे श्रीकृष्णका स्व-माधुर्य आदिका आस्वादन—पहिले ही कहा जा चुका है कि व्रजलीलामें श्रीकृष्ण है नरलील, नर-अभिमान युक्त;

वे स्वयंभगवान् हैं, उनका यह ज्ञान सम्पूर्ण रूपसे प्रच्छन्न है। यदि उन्हें यह ज्ञान रहता, तो जान पाते कि श्रीराधाके भावकान्ति सम्वलित एक स्वरूपसे अनादिकालसे ही वे अपने स्व-माधुर्य आदिका पूर्णतम आस्वादन कर रहे हैं।

ख। सर्वज्ञता शक्ति उनको यह जनाती क्यों नहीं—

प्रश्न हो सकता है कि पहिले कहा गया है कि उनकी सर्वज्ञता शक्ति व्रजलीलामें भी, उनके अज्ञातमें, उनका पूर्णानन्द-पूर्ण-रस-स्वरूपताका ज्ञान उनमें जगाये रहती है। सर्वज्ञता-शक्तिने यहाँ उस प्रभावका प्रकाश किया क्यों नहीं? राधा भावकान्ति-सम्वलित एक स्वरूपसे श्रीकृष्ण अनादिकालसे ही स्वमाधुर्यादिका सम्यक् रूपसे आस्वादन कर रहे हैं, उनका नर-अभिमान अक्षुण्ण रखकर, सर्वज्ञता शक्तिने यह बात उन्हें जनायी क्यों नहीं? जनानेसे वासनात्रयकी अपूर्णताकी ज्वाला उन्हें भोगनी न पड़ती।

उत्तर इस प्रकार है। सर्वज्ञता-शक्तिका या लीला-शक्तिका एकमात्र कार्य है उनकी लीलाका आनुकूल्य करना, रस-आस्वादनकी एवं रस-पुष्टिकी सहायता करना। उन (श्रीकृष्ण) का एकमात्र काम्य है अपने परिकर भक्तोंका आनन्द-विधान करना।

मद्भक्तानां विनोदार्थं करोमि विविधाः क्रियाः–पद्मपुराण॥

भक्त-चित्त-विनोदमें ही उन्हें सुख है। श्रीकृष्ण-सङ्ग आदिके उपलक्षणमें उनके माधुर्य आदिके अनुभवमें श्रीराधा श्रीकृष्णकी अपेक्षा कोटिगुणा अधिक सुखका अनुभव करती हैं। श्रीकृष्णने कहा है—

ताहा देखि सुखे आमि आपना पासरि॥ चै. च. आ. ४।२१३

अर्थात् श्रीराधाका कोटिगुणा अधिक सुख देखकर मैं अपने आपको भूल जाता हूँ। यदि वे जानते कि अन्य एक स्वरूपसे वे भी उस सुखका आस्वादन कर रहे हैं, तब अपनी अपेक्षा भी श्रीराधाके सुखातिशय्यके दर्शनसे उन्हें आत्म-विस्मृति-जनक सुखका अनुभव संभव न होता। श्रीराधाके इस प्रकारके सुखके अनुभवसे भक्तचित्त-विनोदन-तत्पर श्रीकृष्णको आत्म-विस्मृति-जनक सुखका जो अनुभव होता है, वह उनके स्वमाधुर्य आदिके आस्वादनकी वासनाकी अपूर्णताकी तीव्र ज्वालाको प्रतिक्षण तीव्रतर कर श्रीराधाके चित्त-विनोदकी वासनाको ही मानों और भी उज्ज्वलतर कर देता है—"जिस माधुर्य-आस्वादनके लिए मुझे भी तीव्र लोभ है, तथापि मैं आस्वादन नहीं कर पा रहा हूँ, मेरी प्रेयसी-शिरोमणि श्रीराधा उसका आस्वादन करे, उसमें मुझे परम आनन्द है"—इस प्रकारकी भावना, उनके स्वयंकी आस्वादन-वासनाकी अपूर्णता, राधा-चित्त-विनोदनके लिए ही, उनकी वासनाको उग्र कर डालती है, उसीसे उनके लीलारसकी पुष्टि साधित होती है।

जो हो, व्रजलीलामें श्रीकृष्णको उल्लिखित तीन वासनाओंकी अपूर्णता भी नित्य है ; अनादिकालसे ही उनकी ये तीन वासनाएँ अपूर्ण हैं, अनन्तकाल तक अपूर्ण रहेंगी। अन्य एक स्वरूपसे वे जो स्वमाधुर्य आदि सम्यक् रूपसे आस्वादन कर रहे हैं, व्रजभावके आवेशमें उसे जान न सकनेके कारण वे कहते रहते हैं कि श्रीराधाकी भाव-कान्ति अंगीकार कर वे अवतीर्ण होकर अपूर्ण तीन वासनाओंको पूर्ण करेंगे। अनादि-कालसे जितनी बार वे ब्रह्माण्डमें अवतीर्ण हुए हैं, प्रतीत होता है कि प्रत्येक बार उन्होंने इस प्रकारका संकल्प किया है।

गौर स्वरूपमें व्रजेन्द्रनन्दन स्वरूपकी अपूर्ण वासनाओंका पूरण*

अब हम बतायेंगे कि गौर स्वरूपमें श्रीकृष्णने स्वमाधुर्यादि आस्वादन करनेकी अपनी तीनों वासनाओंकी पूर्ति किस प्रकार की।

कृष्ण-माधुर्यका अर्थ केवल श्रीकृष्णका रूपमाधुर्य ही नहीं—उनके नाम, गुण और लीला आदिका माधुर्य भी है; क्योंकि कृष्णके नाम, गुण, लीलादि भी कृष्णके स्वरूपके समान उनसे अभिन्न और चिदानन्दमय हैं।

नामके माधुर्यके सम्बन्धमें स्वयं महाप्रभुने कहा है—

"आनन्दाम्बुधिवर्द्धनं प्रतिपदं पूर्णामृतास्वादनम्।
सर्व्वात्मस्नपनं परं विजयते श्रीकृष्ण सङ्कीर्तनम्॥

—श्रीकृष्ण नाम-सङ्कीर्तनसे हृदयमें आनन्द-समुद्र वर्द्धित अर्थात् तरंगायित और उच्छ्वसित होता है, नामके प्रति पद और प्रति अक्षरमें पूर्ण अमृतका आस्वादन होता है, समस्त देह और मन, यहाँ तक कि देहका प्रत्येक अणु-परमाणु प्लावित होकर परम स्निग्धताको प्राप्त होता है। ऐसा श्रीकृष्ण-संकीर्तन विशेषरूपसे जययुक्त हो रहा है।"

महाप्रभु सर्वदा 'हरे कृष्ण' इत्यादि तारकब्रह्म नामका उच्च स्वरसे कीर्तन करते, जब पथमें चलते होते तो अश्रुविगलित नेत्र और प्रेम गद्गद कण्ठसे गाते—

(१) कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण हे।
कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण हे॥

---

* महाप्रभु श्रीगौराङ्गके बारहवें अध्यायका सारांश

कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण रक्ष माम् ।
कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण पाहि माम् ।।
(२) हरये नमः कृष्ण यादवाय नमः ।
यादवाय माधवाय केशवाय नमः ।
गोपाल गोविन्द राम श्रीमधुसूदन ।
(३) हरि ओ राम राम, इत्यादि ।

महाप्रभु स्वयं गाते और अन्य लोगोंसे गानेका आग्रह करते । इस प्रकार स्वयं गाकर और सहस्र-सहस्र लोगोंके मुखसे हरिनाम सुनकर वे उसके माधुर्यका निरन्तर आस्वादन करते । उन्हें हरिनामके उच्चारणमें कितना रस मिलता, इसका पता इस बातसे चलता है कि रात्रिमें वे देर तक नाम करते रहते और स्वरूप दामोदरको उन्हें सुलानेके लिए कितना प्रयत्न करना पड़ता । स्वरूपको चिंता होती कि यदि प्रभु रात्रि भर नाम करते रहेंगे और सोयेंगे बिलकुल नहीं, तो वे स्वस्थ कैसे रहेंगे। इसलिए वे बार-बार उनसे सो जानेको कहते । पर प्रभु बार-बार कहते—"स्वरूप ! थोड़ा और नामका आस्वादन कर लूँ, थोड़ा और, थोड़ा और ।" थोड़ा और जप कर लेनेके बाद, जब स्वरूप फिर सोनेके लिए आग्रह करते, तो सोनेका छल कर वे लेट जाते और स्वरूपके जाते ही फिर जप करने बैठ जाते । स्वरूपको तो संदेह बना ही रहता, वे थोड़ी देरमें लौटकर फिर आते तो प्रभु उन्हें देखकर लज्जित होते ।

इसी प्रकार महाप्रभु श्रीकृष्णकी रूपमाधुरीका दर्शन करते न अघाते । राधाके मादन-भावमें आविष्ट हो जब वे जगन्नाथजीके मन्दिरमें जगन्नाथके व्रज-विलासी श्याम-सुन्दर वंशी-वदन रूपके दर्शन करते, तब उन्हें श्रीकृष्णके रूप-माधुर्यका पूर्णतम रूपमें आस्वादन होता । उस समय उनकी जैसी अवस्था

होती, उसका सुन्दर वर्णन किया है महात्मा शिशिर कुमार घोषने 'अमिय निमाइ चरित' ग्रन्थके चतुर्थ खण्डके द्वितीय अध्यायके पृष्ठ १०. ११. १२, पर, जो इस प्रकार है—

"प्रभु तड़के ही उठकर व्यग्रताके साथ जाते जगन्नाथजीके मन्दिर उनके दर्शन करने। भीतर न जाकर गरुड़-स्तम्भके निकट खड़े हो उसपर हाथ रख जगन्नाथजीके दर्शन करते। दर्शन करते ही उनका मुख-चन्द्र आनन्दसे प्रफुल्लित हो उठता। साधारण लोगोंके लिए जगन्नाथजीके मुखका दर्शन सुखकारक न होकर बहुत कुछ हास्य-उद्दीपक है। पर प्रभु उनका मुख देख आनन्दसे विह्वल हो उठते। वे अनिमेष उसे देखते रहते। क्रमशः नेत्रोंसे जल-धारा फूट पड़ती। उसका विराम ही न होता। वह धारा वक्षःस्थलसे बहती हुई नीचे पत्थरपर उतरती और एक स्रोतके रूपमें बहती हुई निकटके गर्तमें जा गिरती। प्रभुके चारों ओर अनेकों लोगोंकी भीड़ होती, पर उनके नयन-भृङ्ग अनिमिष जगन्नाथके मुख-पद्मपर ही टिके होते। बीच-बीचमें भोग आता और कपाट बन्द हो जाते। उस समय प्रभु विषण्ण मनसे वहाँ बैठे रहते और नख द्वारा मृत्तिकामें त्रिभंग आकृति आँककर उसके दर्शन करते रहते। नेत्रोंके जलसे आकृति मिट जाती तो फिरसे आँकते। कपाट खुलनेपर फिर उठकर आनन्दपूर्वक दर्शन करते। इस प्रकार दो प्रहर बीत जाते। उनके दोनों पलक-हीन नेत्रोंसे अश्रुधार अविरल बहती होती और बाह्य ज्ञान बिलकुल न होता। बीच-बीचमें श्रीअंग पुलकादि नाना प्रकारके सात्विक भूषणोंसे भूषित हो उठता। प्रभु इसी प्रकार प्रति दिन दो प्रहर जगन्नाथजीके विचित्रसे मुखके खड़े-खड़े दर्शन करते। कृपामय पाठक! क्या आप ऐसा कर सकते हैं? पर हमारे प्रभुने अठारह वर्ष तक प्रति दिन

यही किया। फिर भी उनकी दर्शन-लालसा न मिटी। प्रभुका दर्शन-सुख कितना था, उसका परिमाण नापनेके लिए हमारे पास यन्त्र नहीं। पर उनके कुछ शब्दोंसे हम उसका अनुमान लगा सकते हैं।"

"मध्याह्न हो गया है। प्रभुको घर ले जाना है। पर प्रभु सुनेंगे क्यों? वे अब भी अनिमिष दर्शन कर रहे हैं। स्वरूप बार-बार कह रहे हैं—'प्रभु! अब घर चलें', 'प्रभु! समय बहुत हो गया है,' 'प्रभु! हमें सबको भूख लगी है।' पर प्रभु सुन ही नहीं रहे। वे दर्शन-सुखमें उसी प्रकार लिपटे हैं और उसे छोड़ना ही नहीं चाहते, जिस प्रकार गो-वत्स मातृ-स्तन मुखमें देकर दुग्ध-पान करते, समय उसे किसी प्रकार भी छोड़ना नहीं चाहता। बहुत कहने-सुननेपर वे कहते हैं, 'स्वरूप! और थोड़ा दर्शन कर लेने दो', 'स्वरूप। आज अभी अच्छी तरह दर्शन नहीं किये', 'स्वरूप! अभी-अभी तो आया हूँ' और थोड़ा देख लेने दो', 'स्वरूप! मैं नहीं जाऊँगा, मैं स्नानाहार कुछ नहीं करूँगा, तुम चले जाओ,' स्वरूप! तुमसे विनती करता हूँ,' 'स्वरूप! मेरे प्राण निकल जायेंगे, मुझे और थोड़ा देख लेने दो'।"

श्रीकृष्णके पाँच प्रधान गुण हैं, जिनमें रूप एक है। अन्य पाँच गुण हैं—रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द। चैतन्य-चरितामृतमें उल्लेख है कि महाप्रभु जब जगन्नाथजीके दर्शन करते, तो उन्हें जगन्नाथजीमें साक्षात् व्रजेन्द-नन्दनके दर्शन होते। उस समय श्रीकृष्णके पाँचों गुण उनकी पञ्चेन्द्रियोंको एक साथ प्रबल रूपसे आकर्षित करते। वे उनके पाँचों प्रकारके माधुर्यका एक साथ आस्वादन कर अपनी सुध बुध खो बैठते। (चै. च. ३।१५।६-८)

महाप्रभुने श्रीकृष्णकी लीला-माधुरीके भी विभिन्न रूपोंके दर्शन-सुखका उपभोग किया। चैतन्य-चरितामृतमें उनके रास-लीला, जल-केलि-लीला, वन्यभोजन-लीला, कुञ्ज क्रीड़ा-लीला, गो-चारण-लीला, वेणु-वादन-लीला आदिके दर्शनका उल्लेख है।

राधाभावाविष्ट महाप्रभुने श्रीकृष्णका विविध प्रकारका माधुर्य आस्वादन कर अपनी प्रथम अपूर्ण वासनाकी पूर्ति की। स्पष्ट है कि श्रीकृष्ण-माधुर्य आस्वादन करते समय उन्होंने उस सुखका भी आस्वादन किया, जो राधाको श्रीकृष्ण-माधुर्यके आस्वादनमें होता है। इस प्रकार उनकी दूसरी अपूर्ण वासनाकी भी पूर्ति हुई।

तीसरी अपूर्ण वासना राधा-प्रेमकी महिमा जाननेके सम्बन्धमें है। राधा-प्रेम है महाभावकी चरमतम परिणति। इसलिए राधा-प्रेमके आस्वादनके माने है महाभावके आस्वादनकी चरमतम परिणति। महाभावकी स्वरूपगत महिमाके सम्बन्धमें कहा गया है कि महाभाव 'वरामृत-स्वरूपश्री' के समान है, अर्थात् महाभावकी सम्पत्ति स्वर्गके अमृतसे भी श्रेष्ठ एक अनिर्वचनीय अपूर्व माधुर्य है। ऐसे 'वरामृत-स्वरूप श्रीत्व' की पराकाष्ठा ही राधा-प्रेम है।

राधा-भाव अंगीकार कर महाप्रभुने राधा-प्रेमकी महिमाको जाना, यह भी स्पष्ट है। किसी व्यक्तिके प्रेमकी प्रबलता या उसकी महिमासे अवगत होनेका एक संकेत वे सात्विक भाव हैं, जो उस प्रेमकी अवस्थामें उसमें उत्पन्न होते हैं। राधा-भावाविष्ठ महाप्रभुमें जिन सात्विक भावोंका उदय हुआ वे श्रीकृष्णमें कभी उदय नहीं हुए। न ही उन्हें अन्य किसी व्यक्तिमें उदय होते कभी देखा या सुना गया। शास्त्रोंमें भी उनका कहीं कोई उल्लेख नहीं है। चैतन्य-चरितामृतमें उल्लेख

है कि राधा-भावाविष्ठ महाप्रभुके दिव्योन्मादकी अवस्थामें कभी उनके हस्त-पदादि उदरके भीतर प्रवेश कर जाते और उनका कूर्माकार हो जाता और कभी उनकी हाथ-पैर, ग्रीवा और कटि आदिकी अस्थि-ग्रन्थियाँ इस प्रकार खुल जातीं कि उनके सिरे एक-दूसरेसे एक-एक बालिश्त दूर हो जाते और बीचमें केवल चर्म रह जाता, जिसका परिणाम यह होता कि उनका शरीर अस्वाभाविक रूपसे दीर्घाकार हो जाता। इस प्रकारके सात्विक-भावोंको सात्विक-भावोंकी पराकाष्ठा कहा जा सकता है। इनसे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि महाप्रभुने राधा-भाव अंगीकार कर महाभावकी पराकाष्ठा-स्वरूप राधा-प्रेमका आस्वादन कर उसकी अतुलनीय महिमाको भली प्रकार जाना।

राधाभावकान्ति सुवलित कृष्ण-स्वरूप पीतवर्ण स्वयंभगवान्*

पूर्व आलोचनामें देखा गया है कि अपूर्ण तीन वासनाओं-की पूर्तिका एकमात्र उपाय है श्रीकृष्ण द्वारा श्रीराधाके भाव और कान्तिका अंगीकार करना। यदि वे श्रीराधाका भाव अर्थात् मादनाख्य प्रेम अंगीकार कर सकें एवं श्रीराधाका वर्ण भी अंगीकार कर सकें, तभी उनके लिए स्वमाधुर्य आदिका आस्वादन सम्भव हो सकता है। श्रीराधाका वर्ण है कनकवर्ण, पीतवर्ण। अतएव वे यदि पीतवर्ण एक स्वरूप हों एवं उस स्वरूपमें यदि श्रीराधाके मादनाख्य प्रेमके आश्रय हों, तभी उनकी मनकी कामना पूर्ण हो सकती है।

क। एक व्यक्तिका भाव एवं वर्ण दूसरा व्यक्ति किस प्रकार ले सकता है—किन्तु प्रश्न होता है कि एक व्यक्तिका भाव या प्रेम और वर्ग अन्य व्यक्ति किस प्रकार ले सकता है?

इस सम्बन्धमें वक्तव्य इस प्रकार है। दो व्यक्ति यदि परस्पर भिन्न हों, तो एक व्यक्तिका भाव या वर्ण दूसरा व्यक्ति नहीं ले सकता, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। सन्तानके प्रति माताका जो वात्सल्य है, मातासे सन्तान वह वात्सल्य नहीं ले सकती, सन्तान माता जैसी वात्सल्यवान् नहीं हो सकती; और पिता-माता दोनोंका सन्तानके प्रति वात्सल्य रहनेपर भी, एवं उनका वात्सल्य एक जातीय होनेपर भी सम-परिमाण नहीं है; सन्तानके प्रति माताका वात्सल्य पिताके वात्सल्यकी अपेक्षा बहुत अधिक होता है। पिता कभी भी माताका वात्सल्य

---

* महाप्रभु श्रीगौराङ्गके पहिले अध्यायका २१वाँ अनुच्छेद.

ग्रहण कर माता जैसा वात्सल्यवान् नहीं हो सकता। उनके परस्पर भिन्न होनेके कारण ऐसा होता है।

एक व्यक्तिका वर्ण भी दूसरा व्यक्ति नहीं ले सकता।

किन्तु श्रीराधा एवं श्रीकृष्ण परस्पर भिन्न नहीं हैं; वे एक स्वरूप हैं। श्रीकविराज गोस्वामीने कहा है—

राधा पूर्ण-शक्ति, कृष्ण पूर्ण-शक्तिमान्।
दुइ वस्तु भेद नाहि, शास्त्र-प्रमाण॥
मृगमद, तार गन्ध—जैछे अविच्छेद।
अग्नि ज्वालाते जैछे नाहि कभु भेद॥
राधा कृष्ण तैछे सदा एकइ स्वरूप।
लीलारस आस्वादिते धरे दुइ रूप॥

चै. च. आ. ४।८३-८५

श्रीराधा एवं श्रीकृष्णके बीच सम्बन्ध है शक्ति-शक्तिमत्-सम्बन्ध। श्रीराधा हैं शक्ति, ह्लादिनी प्रधाना स्वरूपशक्ति या ह्लादिनीशक्ति; और श्रीकृष्ण हैं इस शक्तिके शक्तिमान्। ह्लादिनी प्रधाना स्वरूप-शक्ति है श्रीकृष्णकी ही शक्ति, स्वाभाविकी शक्ति। शक्तिमानसे शक्तिको किसी भी प्रकार कभी भी पृथक् नहीं किया जा सकता, शक्ति है शक्तिमानसे अविच्छेद्य। मृगमदकी गन्ध है मृगमदकी शक्ति; मृगमदसे उसे कभी विच्छिन्न नहीं किया जा सकता। अग्निकी ज्वाला या ताप है अग्निकी शक्ति; तापको अग्निसे विच्छिन्न नहीं किया जा सकता। अग्नि एवं उसका उत्ताप दोनों ही हैं तेज, अग्नि घनीभूत तेजः है, ताप तरल तेजः। सूर्यकी किरण है सूर्यकी शक्ति; दोनों ही तेजः है; सूर्य है घनीभूत तेजः एवं किरण है तरल तेजः। दोनों ही स्वरूपतः एक वस्तु होनेके कारण उनको परस्परसे विच्छिन्न नहीं किया जा सकता। मृगमद एवं उसकी

शक्ति या गन्ध वस्तुतः अभिन्न हैं ; उसका प्रमाण यही है कि विज्ञान कहता है कि मृगमदसे उसकी गन्ध बाहर होनेपर उसका वजन घटता है ; वजनका ह्रास साधारण लोगोंके देखनेमें न न आनेपर भी सूक्ष्म वैज्ञानिक यन्त्रसे पकड़ा जाता है । इसीसे समझा जाता है कि मृगमदका जो उपादान है, उसकी गन्धका भी वही उपादान है ; अतएव शक्ति और शक्तिमान्, मृगमद और उसकी गन्ध—वास्तवमें अभिन्न हैं । तरल और घन—इन दो अवस्था भेदसे वे भिन्न रूपसे प्रतीयमान होनेपर भी वस्तुगत भावसे अभिन्न हैं ।

श्रीकृष्ण हैं पूर्णशक्तिमान्, और श्रीराधा हैं उनकी पूर्णशक्ति ; वे स्वरूपतः अभिन्न हैं, एक ही स्वरूप हैं । किन्तु एक होनेपर भी लीलारसके आस्वादनके लिए वे अनादिकालसे दो पृथक् रूपसे विराजित हैं । इसीलिए वे दो पृथक् जन-से प्रतीयमान होते हैं ; किन्तु दो व्यक्ति-जैसे प्रतीयमान होनेपर भी वस्तुतः वे अभिन्न हैं, एक ही स्वरूप हैं ।

श्रीकृष्ण हैं आनन्द-स्वरूप, पूर्ण आनन्द । उनकी स्वाभाविकी स्वरूपशक्ति उनसे अविच्छेद्य होनेके कारण वे हैं शक्तिमत्-आनन्द । जहाँ उनका आनन्द रहेगा, वहीं उनकी स्वरूप-शक्ति एवं स्वरूपशक्तिकी वृत्ति ह्लादिनी भी रहेगी एवं जहाँ स्वरूप-शक्ति एवं स्वरूप-शक्तिकी वृत्ति ह्लादिनी रहेगी, वहीं उनका आनन्द भी रहेगा । श्रीराधा उनकी शक्ति होनेके कारण श्रीराधामें आनन्द भी है । श्रीकृष्णमें भी आनन्द एवं स्वरूप-शक्ति एवं स्वरूप-शक्तिकी वृत्ति है । इस प्रकार जाना गया कि वस्तुतः वे अभिन्न हैं, एक ही स्वरूप है ; एक ही अभिन्न स्वरूप होनेके कारण एकका भाव-वर्ण दूसरा ग्रहण कर सकता है, श्रीराधाका भाव एवं वर्ण श्रीकृष्ण ग्रहण कर सकते हैं ।

ख । वर्ण लेनेका क्या प्रयोजन है—श्रीराधा एवं श्रीकृष्ण स्वरूपतः अभिन्न होनेके कारण श्रीकृष्ण श्रीराधाका भाव एवं वर्ण ले सकते हैं, यह स्वीकार किया जा सकता है। किन्तु स्व-माधुर्य आस्वादनके निमित्त श्रीकृष्ण द्वारा श्रीराधाके भाव-ग्रहण करनेकी ही आवश्यकता है। श्रीराधाका वर्ण लेनेकी आवश्यकता क्यों हुई ?

इस सम्बन्धमें वक्तव्य यह है। वर्ण लिये बिना यदि भाव लेना सम्भव होता तो वर्ण लेनेकी कोई आवश्यकता नहीं होती। किन्तु श्रीराधाका वर्ण लिये बिना श्रीकृष्णके लिए उनका भाव लेना असम्भव होनेके कारण वर्ण लेना पड़ा।

वर्ण लिये बिना भाव लेना असम्भव क्यों है ?

श्रीराधा हैं श्रीकृष्णकी शक्ति। शक्तिके दो रूप है—मूर्त एवं अमूर्त। अमूर्ता स्वरूप-शक्ति श्रीकृष्णमें एवं जितने भी भगवत्स्वरूपोंमें वे अनादि कालसे आत्म-प्रकट करके विराजित हैं, उनके प्रत्येक स्वरूपमें विराजित हैं, वे जितने भी नित्यसिद्ध परिकर रूपोंमें आत्म-प्रकट करते हैं, उनमें भी विराजित हैं। अमूर्ता शक्तिका अपना कोई भी रूप नहीं है। मूर्तशक्तिकी बात केनोपनिषदसे जानी जाती है—हेमवती मूर्तशक्ति। हम लोगोंका परिदृश्यमान् यह जगत् भी माया-शक्तिका मूर्तरूप है। मूर्तशक्ति-का रूप और वर्ण होता है।

श्रीराधा हैं स्वरूप-शक्तिका मूर्तरूप ; ह्लादिनी-प्रधाना स्वरूपशक्तिकी घनीभूततमा अवस्था—ह्लादिनीकी सारभूता अवस्था जो मादनाख्य महाभाव है, श्रीराधा उसी मादनका मूर्त विग्रह हैं। उनका वर्ण है स्वर्णवर्ण, पीतवर्ण। जिस मादनकी मूर्तरूप हैं श्रीराधा, वह मादन ही श्रीकृष्ण-विषयक प्रेमरूप

उनमें सर्वदा विराजित हैं—घनीभूत घृतके मध्यस्थलमें गर्तके मध्य अवस्थित तरल घृतकी तरह। श्रीराधाका देह एवं चित्तस्थित प्रेम—दोनों ही वस्तुतः एक है, जिस प्रकार दीपशिखा एवं उसका आलोक स्वरूपः एक ही तेजोवस्तु है। आलोक लानेके लिए दीपशिखाको ही लाना होता है, दीपशिखाको छोड़कर केवल आलोक लाया नहीं जा सकता। उसी प्रकार श्रीराधाका भाव ग्रहण करनेके लिए उनके देहको ग्रहण करना होगा, देह ग्रहण किये बिना केवल भाव ग्रहण करना असंभव है।

किन्तु चाहे जिस प्रकारसे देह ग्रहण करनेसे भाव ग्रहण नहीं किया जा सकता। श्रीकृष्ण यदि श्रीराधाको आलिंगनबद्ध करें अथवा अङ्कस्थ करें, तब भी श्रीराधाके देहका ग्रहण करना हो जाता है; किन्तु उससे भाव ग्रहण करना नहीं होता, श्रीराधाका चित्तस्थित मादनाख्य महाभाव उससे श्रीकृष्णके चित्तमें संचारित नहीं होता; और श्रीराधाका मादन-भाव श्रीकृष्णके चित्तमात्रमें प्रवेश करनेसे भी श्रीकृष्णकी अपूर्ण वासनाकी पूर्ति सम्भव नहीं होती। मादनाख्य महाभाव श्रीराधामें जिस भावसे विराजित है, श्रीकृष्णमें भी ठीक उसी भावसे विराजित होनेसे श्रीकृष्णका स्व-माधुर्य आदिका आस्वादन सम्भव हो सकता है।

श्रीराधामें मादन किस भावसे विराजित है, उसकी विवेचना की जाय। श्रीकृष्णका माधुर्य है उनके रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्दादिका माधुर्य; श्रीराधा अपने चक्षु-कर्ण-नासिका-जिह्वा-त्वक् आदिके द्वारा उन सबका आस्वादन करती हैं। वह सब वे पूर्णतमरूपसे आस्वादन करती हैं; किन्तु चक्षु-कर्णादिके द्वारा सम्पूर्ण माधुर्य पूर्णतम रूपसे आस्वादन करनेके लिए चक्षु-कर्ण आदिमें भी मादनका अस्तित्व अति आवश्यक हैं।

श्रीराधा जब उस माधुर्यका पूर्णतम रूपसे आस्वादन करती हैं, तब मानना होगा कि उनके चक्षु-कर्णादि सब इन्द्रियोंमें, मनमें भी मादन विराजित है। आपात दृष्टिसे लग सकता है कि उनके चित्तमें ही मादन विराजित है; प्रेमका स्थान मुख्यतः चित्त ही है। किन्तु चित्तमें अधिष्ठित रहनेपर भी मादन उनकी सब इन्द्रियोंको अपने रससे परिसिंचित करता रहता है; नहीं तो सब इन्द्रियोंमें मादनका अस्तित्व सम्भव नहीं हो सकता। श्रीराधा स्वयं भी मादनघन-विग्रहा हैं; वही मादन घनीभूत रूपसे उनके विग्रहरूपसे विराजित है, तरल रूपसे प्रेमरूपमें चित्तमें विराजित है, एवं उनके देह-इन्द्रिय आदिमें सर्वत्र अनुप्रविष्ट होकर उनके चित्त-इन्द्रिय-काया आदिको विभावित करके भी विराजित है। पानका रस किसी औषधकी गोलीके प्रति रन्ध्रमें, प्रति अणु-परमाणुमें जब प्रविष्ट हो, तभी कहा जाता है कि वटिका पानके रससे विभावित है। श्रीराधाका मादन-प्रेमस्वरूप देह एवं उनका चित्त और इन्द्रिय आदि भी उसी प्रकार मादनप्रेमसे विभावित हैं। ब्रह्मसंहिताके **आनन्द-चिन्मयरसप्रतिभाविताभिः** इत्यादि ५.३७ श्लोक उद्धृत करके श्रीराधाके सम्बन्धमें कविराज गोस्वामीने कहा है—

कृष्णप्रेम-भावित जार चित्तेन्द्रिय काय। चै. च. आ. ४।६१

एवं श्रीरामानन्द रायने भी कहा है—

प्रेमेर स्वरूप देह प्रेमविभावित॥ चै. च. म. ८।१२४

श्रीकृष्णके चित्त-इन्द्रियाँ-काय—चक्षु कर्ण-नासिका-जिह्वा-त्वक आदि भी यदि श्रीराधाकी तरह ही मादन-रससे विभावित हो सकें, तभी उनके लिए स्व माधुर्य आदिका पूर्णतम आस्वादन सम्भव हो सकता है।

मादनघन-विग्रहा श्रीराधाके चित्त-इन्द्रिय-काय मादन-रससे विभावित, मादनरससे परिसिंचित हैं। अभ्यन्तर स्थित इस मादन-रसकी रक्षा करनेके लिए ही मानों बाहरसे उनके मादनघन-त्वक्का आवरण है ; यह आवरण-रूप त्वक् भी मादनरस विभावित है ; नहीं तो श्रीकृष्णाङ्ग-स्पर्शके माधुर्यका पूर्णतम आस्वादन असम्भव होता। श्रीकृष्णके चित्त-इन्द्रिय-काय भी जब मादनरससे विभावित एवं परिसिंचित होंगे, तब उनके अभ्यन्तर स्थित मादनरसकी रक्षा करनेके लिए उनके श्रीअङ्गके बहिर्भागमें भी मादनघन एवं मादनरस-विभावित त्वक्रूप आवरणकी आवश्यकता है। श्रीकृष्णका अपना त्वक् आनन्दघन है एवं उल्लिखित अवस्थामें मादनरस-परिसिंचित भी है ; किन्तु वह मादन-घन वस्तु नहीं है। इसलिए मादनरस-परिसिंचित श्रीकृष्णके देहके बाहर भी श्रीराधाके मादनघन एवं मादनरस-विभावित त्वक्के आवरणकी आवश्यकता है। त्वक् होता है देहका ही अंश। श्रीकृष्ण-देहके बाहर श्रीराधाके त्वक्का आवरण होगा—श्रीराधाका देहरूप आवरण, श्रीराधाके पीतवर्ण देह द्वारा श्रीकृष्णके देहका सम्यक् रूपसे आच्छादन।

इस प्रकार देखा गया कि श्रीराधाके मादनाख्य प्रेमरसके द्वारा यदि श्रीकृष्णके चित्त-इन्द्रिय-काय विभावित या परिसिंचित हों, तभी श्रीकृष्णके लिए अपने माधुर्यादिका आस्वादन सम्भव हो सकता है। अतएव श्रीराधाके मादनाख्य महाभावको उल्लिखित रूपसे ही, अर्थात् अपने चित्त-इन्द्रिय-कायको परिसिंचक रूपसे ही ग्रहण करना होगा। और श्रीराधाके देहको ग्रहण किये बिना जब उनके मादन-प्रेमको ग्रहण किया नहीं जा सकता, तब श्रीराधाके देहको ग्रहण करना ही होगा। श्रीराधाका देह किस प्रकार ग्रहण करना होगा, यह भी पूर्ववर्ती आलोचनामें

देखा गया—श्रीराधाके पीतवर्ण देह द्वारा श्रीकृष्णका स्वाभाविक श्यामवर्ण देह जिससे सम्यक् रूपसे आच्छादित हो सके, उसी प्रकार श्रीराधाका देह ग्रहण करना होगा। पीतवर्ण देहके इस प्रकार ग्रहण करनेसे ही उनका वर्ण ग्रहण करना होगा।

उल्लिखित आलोचनासे श्रीराधाके वर्ण-ग्रहणकी आवश्यकता भी जानी गयी। श्रीकृष्णने कहा है—

राधाभाव अङ्गीकरि—धरि तार वर्ण।
तिन सुख आस्वादिते हब अवतीर्ण॥

चै. च. आ. ४।२२३

यहाँ 'राधाभाव अङ्गीकरि धरि तार वर्ण'—इस वाक्यका तात्पर्य इस प्रकार भी हो सकता है—'राधाभाव अङ्गीकार करूँगा। किस प्रकार ? श्रीराधाका वर्ण धारण करके।' इसका तात्पर्य यह होगा कि राधाभाव अङ्गीकार करनेके लिए श्रीराधाका वर्ण-धारण करना अति आवश्यक है।

ग। वर्णग्रहणका उपाय—'श्रीराधाका वर्ण-धारण' का अर्थ है श्रीराधाके अङ्गका जो वर्ण है, श्रीकृष्णके अङ्गका भी वही वर्ण हो। देहके बाहरके भागमें सर्वत्र जो वर्ण रहता है, उसीको देहका वर्ण या कान्ति कहा जाता है। देहका वर्ण भी देहके साथ अविच्छिन्न भावसे विराजित रहता है, देहसे पृथक् भावमें देहका वर्ण नहीं रह सकता। देहका वर्ण देहके लिए स्वाभाविक होता है। व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णका श्यामवर्ण भी श्रीकृष्णके देहके लिए स्वाभाविक है ; उनके देहसे उनके श्यामवर्णको उनसे अपसारित (अलग) करना सम्भव नहीं है। तथापि उन्हें श्रीराधा जैसे पीतवर्णका होना है। श्रीराधाके पीतवर्णको श्रीराधाके देहसे विच्छिन्न नहीं किया जा सकता। इसलिए श्यामसुन्दर व्रजेन्द्र-नन्दनको पीतवर्णका बनने लिए श्रीराधाके पीतवर्ण अङ्ग द्वारा ही श्यामकृष्णको सर्व भावसे आच्छादित होना होगा।

पहिले बताया जा चुका है कि श्रीराधाके अङ्ग-ग्रहणके बिना उनका भाव ग्रहण करना असम्भव है। उल्लिखित प्रकारसे अङ्ग-ग्रहण करनेसे ही श्रीकृष्णके लिए स्व-माधुर्य आस्वादनके उपयोगी भावसे राधाभाव-ग्रहण सम्भव हो सकता है। अतएव उल्लिखित प्रकारसे श्रीराधाका अङ्गग्रहण ही है मुख्य प्रयोजन ; उसके फलस्वरूप ही श्रीराधाका वर्ण या कान्ति-ग्रहण होता है।

घ । राधाङ्ग द्वारा श्रीकृष्णका सर्वाङ्ग आच्छादन किस प्रकार सम्भव है—पहिले बताया जा चुका है कि श्रीकृष्णके लिए स्वमाधुर्य आदिके आस्वादनके उपयोगी भावसे राधाप्रेम अंगीकार करनेके लिए पीतवर्ण अंगके द्वारा श्रीकृष्णके श्याम अंगको सर्वभावसे आच्छादित करना ही होगा। किन्तु एक व्यक्तिके अंग द्वारा अन्य व्यक्तिके अंगका सर्वभावसे आच्छादन किस प्रकार सम्भव हो सकता है ?

दूसरेके लिए असम्भव होनेपर भी श्रीराधाके अंगके लिए यह असम्भव नहीं है। क्यों ?

पहिले बताया जा चुका है कि श्रीराधा और श्रीकृष्ण वास्तवमें भिन्न नहीं हैं, एक ही स्वरूप हैं ; लीलारस आस्वादनके लिए ही दो रूपोंमें अभिव्यक्त है। श्रीराधा हैं श्रीकृष्णकी शक्ति, ह्लादिनी। यह ह्लादिनी अमूर्तरूपसे श्रीकृष्णके देहके सब अंशोंमें विराजित हैं ; मूर्तरूपसे श्रीराधाके देह रूपमें एवं मादनाख्य प्रेमरूपसे श्रीराधाके देहके अभ्यन्तरमें विराजित है। लौकिक जगतमें देखा जाता है कि उत्तापके द्वारा लाक्षाको कुछ नरम करके उसके द्वारा अन्य वस्तुको अच्छी प्रकारसे आच्छादित किया जाता है। श्रीराधाके मादनघन देहको यदि किसी प्रकारसे कुछ गलाया जा सके, तभी उसके द्वारा श्रीकृष्णके देहको अच्छी प्रकार आच्छादित किया जा सकता है।

किन्तु श्रीराधाके देहको किसके द्वारा किस प्रकार गलाया जा सकता है? श्रीराधामें जो मादनाख्य महाभाव है, वही उनके देहको यथोपयोगी भावसे गला सकता है। मादनाख्य महाभावके प्रभावसे श्रीराधाका देह यदि कुछ गल जाय, तो उससे श्रीराधाको या उनके देहको किसी भी प्रकारकी क्षति होनेकी सम्भावना भी नहीं; क्योंकि श्रीराधाका देह एवं देहके अभ्यन्तरमें स्थित प्रेम स्वरूपतः एक वस्तु है। अग्निके द्वारा अग्नि अवस्थान्तर प्राप्त होनेसे अग्निकी क्षति नहीं होती। तरल दुग्धके संयोगसे शुष्क दुग्धचूर्ण (Powdered milk) के तरलत्व प्राप्त होनेपर उसका दुग्धत्व नष्ट नहीं होता।

किन्तु मादनाख्य महाभावका क्या ऐसा कोई प्रभाव है, जो श्रीराधाके मादनघन देहको किंचित् गला दे सके? उज्ज्वल-नीलमणि ग्रन्थसे जाना जाता है कि मादनाख्य महाभावका इस प्रकारका प्रभाव है।

महाभावकी महिमा-कथन-प्रसंगमें उज्ज्वल-नीलमणिने कहा है—

राधाया भवतश्च चित्तजतुनी स्वेदैर्विलाप्य क्रमाद्
युञ्जन्नद्रिनिकुञ्ज-कुञ्जरपते निर्धूतभेदभ्रमम्।
चित्राय स्वयमन्वरञ्जयदिह ब्रह्माण्ड-हर्म्योदरे
भूयोभिर्नवरागहिङ्गुलभरैः शृङ्गारकारुकृती॥

उ. नी. म. स्थायी. ११०

—(गोवर्धन पर्वतके किसी एक निकुञ्जमें श्रीराधा और श्रीकृष्ण परस्परके माधुर्य-आस्वादनमें निमग्न हैं। उद्दीप्त सात्विक-भावने उन दोनोंके देहको अलंकृत कर रखा है। उनकी इस महाभाव-माधुरीके दर्शनकर वृन्दादेवीने श्रीकृष्णसे कहा—)

"हे गोबर्धनगिरि-निकुंज-कुंजरपते ! सुनिपुण शृङ्गार शिल्पीने श्रीराधिकाके और तुम्हारे चित्तरूप लाक्षाको स्वेद-(नामक सात्विक भाव रूप ताप) द्वारा क्रमसे द्रवीभूत कर तथा भेद भ्रम दूर कर (दोनोंके चित्तको) एकीभूत कर दिया है और उसे इस ब्रह्माण्डरूप अट्टालिकाके अभ्यन्तरमें चित्रित करनेके लिए बड़े परिमाणमें नवरागरूप हिंगुलसे स्वयं अनुरंजित किया है।"

इस श्लोकमें शृंगाररूप शिल्पीके प्रभावकी बात कही गयी है। महाभाव ही शृंगार-रूपमें परिणत होता है ; अतएव यहाँपर वस्तुतः महाभावके प्रभावकी बात कही गयी है। क्या है वह प्रभाव ? जैसे अग्निके उत्तापसे दो टुकड़े लाक्षाको कोई भी शिल्पी इस प्रकार गला दे कि वे कभी दो टुकड़े थे—इसका पता न चले, दो टुकड़े थे—इसका भ्रम होनेकी भी सम्भावना न रहे (**निर्धूतभेदभ्रमम्**), उसी प्रकार महाभावने श्रीराधा और श्रीकृष्णके चित्तद्वयको गलाकर एकीभूत कर दिया है ; इस प्रकार एकीभूत कर दिया है कि पहिले उन दोनोंके दो चित्त थे, यह जाननेका कोई उपाय न रहे, ऐसा भ्रम होनेकी सम्भावना भी न रहे।

यह है महाभावका साधारण लक्षण या प्रभाव। महाभाव ही चरमतम सान्द्रत्व (गाढ़ता) प्राप्त कर मादनाख्य महाभाव-रूपमें परिणत होता है ; सान्द्रत्व प्राप्तिके साथ-साथ महाभाव-का प्रभाव भी क्रमशः वर्धित होता है एवं मादनमें वही प्रभाव चरमतम पराकाष्ठाको पहुँच जाता है। महाभाव ही जब अपने प्रभावसे श्रीराधाकृष्ण दोनोंके चित्तको गलाकर एकीभूत कर दे सकता है, तब मादनका प्रभाव श्रीराधाके देहको यथायोग्य भावसे गलाकर श्रीकृष्णके अंग आच्छादनके योग्य उपयोगी कर दे, इसमें सन्देहके लिए कोई अवकाश नहीं रहता। श्रीकृष्णको

शृङ्गार-रस या मधुर-रस आस्वादन करानेके लिए, श्रीकृष्णके प्रीति-विधानके लिए, महाभाव श्रीश्रीराधा-कृष्ण, दोनोंके चित्तोंको गलाकर, एकीभूत कर देता है श्रीकृष्णके प्रीतिविधानके निमित्त, श्रीकृष्णकी तीन अपूर्ण वासनाओंके पूरणके निमित्त मादन भी श्रीराधाके अंगको यथायोग्य भावसे गला देता है।

ङ। श्रीराधा उल्लिखित भावसे अपने देह आदि श्रीकृष्णको क्यों देती हैं—अब प्रश्न हो सकता है कि श्रीराधा मादनके प्रभावसे क्यों अपने देहको गलाकर श्रीकृष्णका सर्वभावसे आच्छादन करती हैं ?

इस प्रसंगमें वक्तव्य इस प्रकार है। श्रीराधाका एकमात्र कर्तव्य क्या है—यह जान लेनेसे इस प्रश्नका उत्तर मिल जाता है। श्रीकृष्णकी स्वाभाविक शक्तिरूपा श्रीराधाका एकमात्र कृत्य है श्रीकृष्णकी सेवा, कृष्णसुखैकतात्पर्यमयी सेवा। कृष्ण-सेवामें अपने सुख-दुःखका अनुसन्धान श्रीराधाको नहीं है, उनकी कायव्यूहरूपा व्रजगोपीगणको भी नहीं है।

आतम-सुख-दुःख गोपीर नाहिक विचार।
कृष्ण-सुख हेतु चेष्टा मनोव्यवहार॥
कृष्ण लागि आर सब करि परित्याग।
कृष्णसुख हेतु करे शुद्ध अनुराग॥

चै. च. आ. ४।१४९,१५०

श्रीराधाके नामका मुख्य अर्थ भी वही है। 'राध्' धातुसे 'राधा' शब्द निष्पन्न है। 'राध्' धातुका अर्थ है 'सन्तोष'। सम्यक् प्रकारसे श्रीकृष्णका सन्तोष या प्रीतिविधान करें जो, वे ही राधा हैं।

कृष्ण-वाञ्छा-पूर्तिरूप करे आराधने।
अतएव 'राधिका' नाम पुराणे बाखाने॥

चै. च. आ. ४।७५

श्रीकृष्णके चित्तमें जब जिस वासनाका उदय हो, तब उसे पूर्ण कर श्रीकृष्णका प्रीतिविधान करना ही है श्रीराधाका एकमात्र कृत्य । इसीलिए श्रीराधाने कहा है—

"ना गणि आपन दुःख, सबे बाञ्छि ताँर सुख,
ताँर सुखे आमार तात्पर्य ।
मोरे यदि दिले दुःख, कृष्णेर हय महासुख,
सेइ दुःख मोर सखवर्य ।।

चै. च. अं. २०।४३

कृष्ण-सुखके लिए इस प्रकारकी तत्परता जिनकी है, वे ही श्रीराधा श्रीकृष्णकी अपूर्ण तीन वासनाओंकी पूर्तिके लिए उल्लिखित रूपसे श्रीकृष्णको अपने अंग आदि दे दें, इसमें आश्चर्यकी क्या बात है ?

च । पीतवर्ण स्वयंभगवान्——ऊपरकी आलोचनासे जाना गया कि स्व-माधुर्य आदिके आस्वादनके उद्देश्यसे, श्रीराधाकी भावकान्ति अङ्गीकार करनेका, श्रीराधाके पीतवर्ण अङ्ग द्वारा अपने श्याम अङ्गको सम्यक् प्रकारसे आच्छादित करनेका श्रीकृष्णने संकल्प कर लिया है । पूर्व आलोचनासे यह भी जाना गया कि श्रीराधा, प्रेमसे यथा योग्य भावसे गलकर, अपने पीतवर्ण अङ्ग द्वारा अपने प्राणवल्लभ श्यामसुन्दरके प्रत्येक श्याम-अङ्गको आच्छादित करें, तभी श्रीकृष्णका संकल्प सिद्ध हो सकता है ।

श्रीराधाके अपने अङ्ग द्वारा श्यामसुन्दरके सम्पूर्ण अङ्गको आच्छादित करनेपर जो स्वरूप बनेगा, वह होगा राधाकृष्णका मिलित स्वरूप ; इस स्वरूपमें राधा-कृष्ण दोनोंके मिलित होनेपर किसीका भी पृथक् अस्तित्व नहीं रहेगा ; यह

होगा शृङ्गार-रसराज-मूर्तिधर अखिल रसामृत-सिन्धु श्रीकृष्ण एवं महाभाव-स्वरूपिणी मादनघनविग्रहा श्रीराधा— इन दोनोंके मिलनसे उत्पन्न एक रूप—"रसराजमहाभाव दुइ एक रूप।" इस एक रूपमें श्रीराधा रहेंगी बाहर, उनके भीतर रहेंगे स्वयं-भगवान् श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण ; यह रूप होगा 'अन्तःकृष्ण बहिर्राधा'। पीतवर्णा श्रीराधा द्वारा बाहरसे कृष्णके सर्वाङ्गके आच्छादित होनेके कारण इस स्वरूपका वर्ण होगा पीत ; और इस पीतवर्ण आवरणके भीतर स्वयंभगवान् श्रीकृष्णके होनेके कारण यह स्वरूप होगा **पीतवर्ण स्वयंभगवान्**।

अपनी अपूर्ण तीन वासनाओंकी पूर्तिके उद्देश्यसे श्रीकृष्णने इस प्रकारके पीतवर्ण स्वयंभगवान् रूपमें आविर्भूत होनेका संकल्प किया है।

अब प्रश्न हो सकता है कि स्वयंभगवान्का 'स्वयंभगवान्' रूपसे जो पीतवर्ण एक स्वरूप है, स्मृति-श्रुतिमें उसका कोई प्रमाण है या नहीं ; यदि नहीं, तब श्रीकृष्णका इस प्रकारका सकल्प सार्थक कैसे होगा ; क्योंकि जैसे श्रीकृष्ण नित्य हैं, वैसे ही उनकी सब लीलाएँ भी नित्य हैं ; उनके स्वमाधुर्य आदिकी आस्वादनात्मिका लीला भी नित्य होनी चाहिये। अतएव तदुपयोगी स्वरूप भी नित्य होना चाहिये ; श्रुति-स्मृतिमें अवश्य इसका उल्लेख होना चाहिये।

परवर्ती अध्यायमें इसकी आलोचना की गयी है।

श्रीकृष्णका नामकरण*

क । श्रीकृष्णका नाम-प्रकटन— यशोदानन्दनके नाम-करण-प्रसंगमें गर्गाचार्यजीने प्रथम ही कहा—

आसन् वर्णास्त्रयो ह्यस्य गृह्णतोऽनुयुगं तनूः ।
शुक्लो रक्तस्तथा पीत इदानीं कृष्णतां गतः ॥ भा. १०।८।१३

गर्गाचार्यजीने कहा—महाराज ! तुम्हारे ये पुत्र भिन्न-भिन्न युगोंमें भिन्न-भिन्न शरीर ग्रहण करके रहते हैं ; इनका शुक्ल, रक्त और पीत—ये तीन वर्ण पहिले ही हो चुके हैं ; अब ये कृष्णताको प्राप्त हुए हैं ।

विवेच्य—यहाँपर एक विषय विशेष प्रणिधान योग्य है । गर्गाचार्यजीने वसुदेवजीसे कहा—

"तदेतदपरमप्यहं नानावृत्तं जानाम्येव ॥
गोपाल चम्पू पूर्व. ६।२६**॥"

वसुदेवने जब गर्गाचार्यजीसे अपने पुत्रके नन्दालयमें रखकर आनेकी बात कही, तब गर्गाचार्यने हँसते हुए कहा—"इसकी अपेक्षा और भी अनेक वृत्तान्तोंके वे जानकार हैं ।" इससे प्रतीत होता है कि श्रीकृष्णका तत्त्व भी गर्गाचार्य जानते थे, श्रीकृष्णने ही कृपा कर उन्हें सब जनाया था । अतएव—

कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृति वाचकः ।
तयोरैक्यं परंब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते ॥
गोपालतापनीश्रुति ।

---

* महाप्रभु श्रीगौराङ्गके दूसरे अध्यायका ५वाँ अनुच्छेद.

**श्रीपुरीदास महाशय सम्पादित

यह शास्त्र-वाक्य भी वे जानते थे। गुण कर्मके अनुसार ही उन्होंने रोहिणीके पुत्रका नाम रखा था। (भा. १०।८।१२) यशोदा-पुत्रका नाम भी उन्होंने गुण-कर्मके अनुसार ही व्यक्त किया है। (भा. १०।८।१५ श्लोकसे यह स्पष्ट है)। ऐसी अवस्थामें यशोदा-नन्दनके नामकरणके प्रसंगमें उन्होंने क्यों नहीं कहा—"व्रजराज! तुम्हारा यह पुत्र स्वयं परब्रह्म है, कृष्ण तो इसका अनादिसिद्ध नाम है; इसलिए मैंने इसका नाम रखा 'कृष्ण'।"

इसका कारण यह है। नन्द महाराज हैं शुद्ध वात्सल्य-विग्रह; उनके चित्तमें भी शुद्ध वात्सल्यका पूर्णतम विकास है। इसलिए श्रीकृष्णके सम्बन्धमें उनकी कभी भी ईश्वर-बुद्धि जाग्रत नहीं हुई। वे श्रीकृष्णका ऐश्वर्य देखकर भी उसे श्रीकृष्णका ऐश्वर्य नहीं मानते थे। नामकरणके पूर्व भी पूतना-वध, शकट-भंजन आदि लीलाओंमें श्रीकृष्णका ऐश्वर्य विकसित हुआ है; किन्तु किसीने भी—श्रीनन्द महाराजने भी—उसे श्रीकृष्णका ऐश्वर्य नहीं माना। बल्कि पुत्रबुद्धिसे नन्द-यशोदाने शिशुपुत्रके कल्याणके लिए ही अनेक मांगलिक अनुष्ठान सम्पन्न करवाये। यह सब सोचकर गर्गाचार्यजीने सोचा होगा—"मैं यदि स्पष्ट भावसे श्रीकृष्णकी स्वयंभगवत्ताकी बात कह दूँ, तो व्रजराजके मनमें आयेगा कि मैं उनके पुत्रको स्वयं-भगवान् बताता हूँ, इससे शिशुका अमंगल होगा, यह सोचकर व्रजराज अत्यन्त दुःखी होंगे। और यदि मैं श्रीकृष्णके तत्त्वको गोपन रखूँ तो मेरा ज्ञान-शाठ्य होगा, यह भी अन्याय होगा।" यह सब विचारकर गर्गाचार्य उभय-संकटमें पड़ गये—ऐसा लगता है। इस संकटसे उद्धार पानेके लिए उन्होंने सोचा होगा—"यदि ऐसे ढंगसे मैं बात कहूँ—जिसमें श्रीकृष्णका तत्त्व भी प्रकट हो जाय और व्रजराजका वात्सल्य भी नष्ट न हो, जिससे

ब्रजराज उन बातोंका अपने भावोचित तात्पर्य ग्रहण कर आनन्द अनुभव कर सकें, तभी बात ठीक बने।" संभवतः इस प्रकार सोचकर उनके मुखसे तदनुरूप वाक्य स्फुरित करानेके लिए मन-ही-मन श्रीकृष्ण-चरणोंमें प्रार्थना करके ही गर्गाचार्यजीने उपरोक्त भा. १०।८।१३ का 'आसन् वर्णास्त्रयो ह्यस्य' इत्यादि श्लोक कहा। इस श्लोकसे श्रीकृष्णका तत्त्व भी प्रकट हो गया और व्रजराजने भी दुःख अनुभव करनेकी जगह परमानन्द ही अनुभव किया।

उक्त श्लोक सुनकर व्रजराज नन्दजीने अपने भावके अनुसार जो तात्पर्य ग्रहण किया, वह बताया जाता है।

व्रजराजका मनोगत अर्थ—उक्त श्लोकके अन्तर्गत 'गृह्णतोऽनुयुगं तनूः' वाक्य सुनकर व्रजराजने सोचा—"मेरा यह पुत्र भिन्न-भिन्न युगोंमें भिन्न-भिन्न देह धारण करता है, इसमें आश्चर्यकी कोई बात नहीं है। सभी तो भिन्न-भिन्न युगमें भिन्न-भिन्न रूपसे जन्म लेते ही रहते हैं, भिन्न-भिन्न जन्ममें देह भी भिन्न-भिन्न रहता है। मेरे इस शिशुने भी भिन्न-भिन्न युगमें भिन्न-भिन्न जन्मोंमें भिन्न-भिन्न देह धारण की है। गर्गाचार्यजीने बताया है कि इस बालकके पहिले तीन वर्ण हो चुके हैं—शुक्ल, रक्त और पीत। किन्तु मनुष्योंमें तो साधारण-तया इस प्रकारके वर्ण देखनेमें नहीं आते। शास्त्रोंसे जाननेमें आता है कि किसी-किसी भगवत्-स्वरूपके शुक्ल-रक्तादि वर्ण होते हैं। सत्ययुगके युगावतारका शुक्ल वर्ण और उनका नाम भी शुक्ल होता है। त्रेताके युगावतारका रक्तवर्ण और उनका नाम भी रक्त होता है। पीत भी सम्भव है किसी भगवत्-स्वरूपका वर्ण हो। शास्त्रोंसे यह भी जाना जाता है कि

उपासनाके फलसे कोई उपासक उपास्यके समान वर्ण पा सकता है। प्रतीत होता है कि मेरा यह शिशु भी सत्ययुगमें शुक्ल, त्रेतायुगमें रक्त एवं अन्य किसी युगमें पीतवर्ण भगवत्-स्वरूपकी उपासना करके उनके समान वर्ण पा चुका है। और इस समय तो इसका कृष्ण-वर्ण दिखायी ही दे रहा है—**इदानीं कृष्णतां गतः**। प्रतीत होता है कि मेरे इस शिशुने पूर्व जन्ममें नारायणकी उपासना करके कृष्ण-वर्ण प्राप्त किया है। अहो! मालूम होता है कि मेरा यह पुत्र भगवान्‌का परम भक्त है। मेरा भी बड़ा सौभाग्य है कि भगवान्‌ने कृपा कर अपने एक परम भक्तको मेरे पुत्र-रूपमें भेजा है।" इस प्रकार विचार कर ब्रजराज नन्द परमानन्दसे विह्वल हो गये।

गर्गाचार्यजीका अभिप्रेत अर्थ—किन्तु गर्गाचार्यजीने उल्लिखित श्लोकमें व्रजराज-नन्दनकी स्वयंभगवत्ताकी बात ही कही है। किस प्रकार? यह बताया जा रहा है।

गृह्णतोऽनुयुगं तनूः—श्लोकस्थ 'गृह्णतोऽनुयुगं तनूः—युग-युगमें भिन्न-भिन्न तनु ग्रहण करते हैं'—इस वाक्यमें गर्गाचार्यजीने नन्द-तनयकी स्वयंभगवत्ताकी बात ही व्यक्त की है, क्योंकि स्वयंभगवान् ही भिन्न-भिन्न युगमें युगावतार आदि रूपसे भिन्न-भिन्न विग्रहमें आत्म-प्रकट करते हैं।

"इदानीं कृष्णतां गतः—इस बार कृष्णता प्राप्त हुई है"—इस वाक्यके अन्तर्गत 'इदानीं' शब्दमें द्वापर युगकी बात कही गयी है; क्योंकि वर्तमान चतुर्युगके अन्तर्गत गत द्वापरमें ही नन्दतनयका नामकरण किया गया था। 'इदानीं कृष्णतां गतः'—वाक्यसे गर्गाचार्यजीने संकेतसे बता दिया कि नन्दसुतका एक नाम है 'कृष्ण'। टीकामें श्रीधर स्वामीने भी यही लिखा है—**"अस्य तव पुत्रस्य, अतः कृष्ण इत्येकं नाम भविष्यति।"** इस

वाक्यके सम्बन्धमें पीछे विशेष भावसे आलोचना की जायगी, इसलिए यहाँ और अधिक कुछ नहीं कहा जा रहा है।

आसन् वर्णास्त्रयो ह्यस्य—'आसन् वर्णास्त्रयो ह्यस्य'—इस वाक्यमें कहा गया है कि इनके तीन वर्ण हो चुके हैं। 'आसन्' शब्द 'अस्' धातुका अतीत काल-वाचक क्रिया पद है; इसका अर्थ—अतीतमें हुए हैं। द्वापरके पूर्व नन्द-तनयके तीन वर्ण, अर्थात् तीन वर्णोंसे तीन आविर्भाव हो चुके हैं।

ये तीन वर्ण हैं—'शुक्लो रक्तस्तथा पीतः—शुक्ल, रक्त और पीत' अतीत अर्थात् द्वापरके पूर्ववर्ती तीन युगोंमें ये तीन वर्ण हो चुके हैं, क्योंकि भिन्न-भिन्न युगमें ही ये भिन्न-भिन्न वर्णके भिन्न-भिन्न देह प्रकट करते हैं। 'गृह्णतोऽनुयुग तनूः।'

सत्ययुगका युगावतार है 'शुक्ल', उनका वर्ण भी शुक्ल है। त्रेतायुगके युगावतार हैं 'रक्त', उनका वर्ण भी रक्त है। वर्तमान चतुर्युगके अन्तर्गत सत्य और त्रेता तो द्वापरके पूर्व अतीत हो चुके। ये नन्दात्मज वर्तमान चतुर्युगके अन्तर्गत गत द्वापरके पूर्ववर्ती सत्ययुगमें युगावतार रूपसे शुक्लवर्णसे एवं त्रेतायुगमें युगावतार रूपसे रक्तवर्णसे अवतीर्ण हुए थे, यही गर्गाचार्यजीका अभिप्राय जाना गया।

किन्तु पीतवर्णसे वे कब अवतीर्ण हुए थे ? युग तो केवल चार है—सत्य, त्रेता, द्वापर और कलि। उनमें-से सत्य, त्रेता और द्वापरकी बात कही जा चुकी, कलिकी बात नहीं कही गयी। अतएव युगोंमें बाकी रहा एक कलियुग। चार युगोंके चार रूपोंके मध्य केवल तीन युगोंके रूपकी बात स्पष्ट भावसे जानी गयी—सत्यमें शुक्ल, त्रेतामें रक्त एवं द्वापरमें (संकेतसे उक्त) कृष्ण। पीतवर्णकी बात कहकर भी यह किस युगका

है, स्पष्ट रूपसे नहीं कहा गया। विचारके द्वारा इसका निर्णय करना होगा।

विचार इस प्रकार बनता है। वे जब भिन्न-भिन्न युगमें भिन्न-भिन्न वर्णसे आविर्भूत होते हैं, एवं सत्य, त्रेता और द्वापरमें जब शुक्ल, रक्त और कृष्ण वर्णसे आविर्भूत हो चुके हैं, तब अवशिष्ट कलियुगमें ही वे पीत वर्णसे आविर्भूत हुए थे, किन्तु वह कलियुग इस वर्तमान चतुर्युगके अन्तर्गत कलियुग हो, यह गर्गाचार्यजीका अभिप्राय नहीं हो सकता ; क्योंकि जब नामकरण किया जा रहा था तब वर्तमान चतुर्युगके अन्तर्गतका कलि अनागत रहा, द्वापरके बाद उस कलियुगका आगमन होगा। जो तीन वर्ण अतीतमें हो गये हैं, पीत है उन्हीं तीन वर्णोंके अन्तर्गत एक वर्ण ; अतएव गर्गाचार्यजीका अभिप्रेत पीतवर्ण गत द्वापरके पूर्व ही हो गया है। गत द्वापरके पूर्व वर्तमान चतुर्युगके अन्तर्गत कोई भी कलि जब नहीं है, हो भी नहीं सकता, तब समझना होगा कि गर्गाचार्यजीका अभिप्राय यह है कि **पूर्ववर्ती किसी भी कलियुगमें नन्दात्मज पीत वर्णसे अवतीर्ण हुए थे।**

इदानीं कृष्णतां गतः—'इदानीं' अर्थात् इस द्वापरमें, कृष्णतां गतः। पहिले ही बताया जा चुका है कि इस वाक्यमें गर्गाचार्यजीने संकेतसे बता दिया कि नन्दतनयका एक नाम है 'कृष्ण' ; श्रीश्रीधर स्वामीपादने भी यही कहा है, यह पहिले प्रदर्शित हो चुका है। नन्दात्मज जब भिन्न-भिन्न युगमें भिन्न-भिन्न वर्ण धारण करते हैं, तब इस द्वापर युगमें उन्होंने 'कृष्ण'-वर्ण धारण किया है, 'कृष्णतां गतः' वाक्यसे यह भी सूचित होता है। किन्तु शुक्ल, रक्त, पीत—तीन युगोंके इन तीन वर्णोंकी बात जिस प्रकार स्पष्ट भावसे कही गयी है, द्वापरके

वर्णको उसी प्रकार स्पष्ट भावसे 'कृष्ण' न कहकर गर्गाचार्यजीने 'कृष्णतां गतः' क्यों कहा ?

'कृष्ण' न कहकर 'कृष्णतां गतः' कहनेका तात्पर्य इस प्रकार है। शुक्ल और रक्तकी तरह 'कृष्ण' कहनेसे केवल वर्णका ही उल्लेख होता एवं उस उपलक्षणसे 'कृष्ण' नाम भी कहा जाता ; किन्तु 'कृष्णतां गतः' वाक्यमें वर्ण और नाम तो सूचित होता ही है, और भी कुछ सूचित होता है। इस नन्दात्मजमें 'और भी कुछ' है, वह बतानेके लिए ही गर्गाचार्यजीने केवल 'कृष्ण' न कहकर 'कृष्णतां गतः' कहा।

किन्तु 'कृष्णतां गतः' वाक्यमें 'और भी कुछ' क्या सूचित होता है ? यह बताया जा रहा है।

'कृष्णतां गतः' वाक्यका गूढ़ तात्पर्य समझनेके लिए 'कृष्णतां' शब्दका मुख्य अर्थ या प्रकृति प्रत्ययगत अर्थ क्या है, यह देखना होगा। कृष्-धातुके उत्तर ण-प्रत्ययके योगसे 'कृष्ण' शब्द निष्पन्न हुआ। कृष्-धातुका अर्थ है आकर्षण ; और ण-प्रत्ययका अर्थ है आनन्द।

> कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः।
> तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते ॥
>
> सच्चिदानन्दरूपाय कृष्णायाक्लिष्ट-कारिणे।
> नमो वेदान्तवेद्याय गुरवे बुद्धिसाक्षिणे ॥
>
> गोपाल-पूर्वतापनी श्रुति ॥१॥

इस श्रुति-वाक्यसे जाना गया कि आनन्द और आकर्षणका एकत्र समावेश जिनमें हो, वे ही हैं कृष्ण ; वे वेदान्तवेद्य, अक्लिष्टकारी, गुरु एवं बुद्धिसाक्षी हैं। यह भी जाना गया कि कृष्ण-शब्दका प्रकृति-प्रत्यय-लब्ध अर्थ होता है आकर्षक। तब

'कृष्णतां' शब्दका अर्थ होगा आकर्षकता। 'इदानीं कृष्णतां गतः' वाक्यका मुख्य अर्थ हुआ—इस द्वापरमें इनको आकर्षकता प्राप्त हुई है। और उनके अनन्त नामोंमें कृष्ण नाम ही मुख्य है।

नाम्ना मुख्यतमः नाम कृष्णाख्य मे परन्तपः ॥ भगवदुक्ति ॥ इस एक वाक्यमें गर्गाचार्यजीने संकेतसे अनेक बातें कह दीं—ये नन्दात्मज कृष्ण, परब्रह्म, वेदान्तवेद्य, बुद्धि-साक्षी, अक्लिष्टकर्मा हैं ; नन्दात्मजके अनन्त नाम है, किन्तु कृष्ण नाम ही उनका मुख्य नाम है। ये आनन्दस्वरूप होनेके कारण अपने आनन्दके द्वारा सबका आकर्षण करते हैं। इस बार, इस द्वापरमें सबको आकर्षण करके ये आकर्षकता या कृष्णताको प्राप्त हुए हैं।

किन्तु किसको या किनको आकर्षण करके 'कृष्णता' को प्राप्त हुए हैं ? परवर्ती 'बहूनि सन्ति नामानि' (भा. १०।८।१५) इत्यादि श्लोकमें गर्गाचार्यजीने यह बात बतायी है (परवर्ती ग-अनुच्छेदमें इस श्लोककी आलोचना देखिये)। इस श्लोकके तात्पर्य-से जाना जाता है कि श्रीकृष्ण अनादि कालसे जिन सब भगवत्स्वरूपोंमें आत्म-प्रकट करके विराजित हैं, उन सब स्वरूपोंको आकर्षित कर और उन्हें अपने अन्तर्भुक्त कर 'कृष्णता या आकर्षकता' को प्राप्त हुए हैं।

इस प्रकार देखा गया कि 'इदानीं कृष्णतां गतः' वाक्य द्वारा गर्गाचार्यजीने संकेतसे श्रीकृष्णकी स्वयं-भगवत्ताकी बात कही।

पीतवर्ण स्वयंभगवान्—अब और भी एक विषयकी आलोचना करनी होगी। कहा गया है—'शुक्लो रक्तस्तथा पीतः'। शुक्ल, रक्त और पीत—इन तीन वर्णोंमें-से शुक्ल और रक्त तो युगावतारके वर्ण हैं। पीत भी क्या किसी पूर्ववर्ती कलिका

युगावतार है ? या अन्य कोई भगवत्स्वरूप है ? इसका निर्णय कैसे किया जाय ?

यदि कहा जाय कि पीतवर्ण स्वरूप युगावतार है या अन्य कोई भगवत्स्वरूप—यह निर्णय करनेके लिए विचारकी आवश्यकता कहाँ है ? 'शुक्लो रक्तस्तथा पीतः' इस वाक्यमें गर्गाचार्यजीने एक साथ ही तीनों वर्णोंका उल्लेख कर दिया है—शुक्ल, रक्त तथा पीत। जब शुक्ल और रक्त युगावतारके वर्ण हैं, तब स्पष्ट है कि पीत भी युगावतारका ही वर्ण है। 'तथा—तद्रूप' शब्दसे यह और भी स्पष्ट कर दिया गया है।

उत्तरमें वक्तव्य इस प्रकार है। साधारण दृष्टिसे 'शुक्लो रक्तस्तथा पीतः' वाक्यसे पीत युगावतारका वर्ण जैसा लगनेपर भी यह विचारयुक्त नहीं है ; क्योंकि कलिका युगावतार पीतवर्ण होता है, यह किसी शास्त्रमें नहीं लिखा है। ऐसा कहनेका हेतु प्रदर्शित किया जा रहा है।

युगावतार-प्रसंग—युगावतारके सम्बन्धमें शास्त्र-प्रमाण आलोचित किया जा रहा है।

> कथ्यते वर्णनामाभ्यां शुक्लः सत्ययुगे हरिः।
> रक्तः श्यामः क्रमात् कृष्णस्त्रेतायां द्वापरे कलौ ॥
>
> ल. भा. युगावतार प्रकरण १।२१५

युगावतारका नाम जैसा है, वैसा ही वर्ण भी है। सत्ययुगके युगावतारका नाम एवं वर्ण है शुक्ल, त्रेताके युगावतारका नाम और वर्ण है रक्त, द्वापरके युगावतारका नाम एवं वर्ण है श्याम, एवं कलिके युगावतारका नाम एवं वर्ण है कृष्ण (ये स्वयंभगवान् कृष्ण नहीं है, उनके अंश है ; युगावतार सर्वदा ही स्वयंभगवान्के अंश होते हैं)। श्रीहरिवंशके मतसे कलिका युगावतार कृष्ण

है, 'कृष्णः कलियुगे विभुः' ल. भा. टीकाधृत वचन। और विष्णुधर्मोत्तरके मतसे 'द्वापरे शुकपत्राभः कलौ श्याम प्रकीर्तितः ॥ श्रीभा. ११।५।२७ श्लोककी श्रीजीवगोस्वामिपाद कृत क्रमसन्दर्भ टीकाधृत प्रमाण ॥—द्वापरका युगावतार शुकपत्राभ एवं कलिका युगावतार श्याम है ॥"

पर कलिके युगावतारके सम्बन्धमें दो मत मिलते हैं—हरिवंशके मतसे कृष्ण एवं विष्णुधर्मोत्तरके मतसे श्याम। यहाँ वास्तवमें कोई विरोध नहीं है ; क्योंकि 'श्याम' शब्दका अति प्रसिद्ध अर्थ है 'कृष्ण'। इसीलिए श्रीकृष्णको श्यामसुन्दर कहा जाता है और राधेकृष्णको राधेश्याम कहा जाता है।

द्वापरके युगावतारके सम्बन्धमें भी दो मत पाये जाते हैं—लघुभागवतामृतके अनुसार उसका वर्ण है श्याम, विष्णुधर्मोत्तरके अनुसार शुकपत्राभ। श्रीभा. ११।५।२७ की टीकामें श्रीपाद जीवगोस्वामीने लिखा है—"**सामान्यतस्तु द्वापरे शुकपत्रवर्णत्वम्**—किन्तु सामान्यतः (साधारणत) द्वापरे शुकपत्रवर्णत्व" हम श्रीजीवपादकी इस उक्तिके तात्पर्यकी आलोचना करते हैं। जिस युगमें स्वयंभगवान् अवतीर्ण होते हैं, उस युगके युगावतार पृथक् भावसे अवतीर्ण नहीं होते, वे स्वयंभगवान्के मध्य अवस्थित रहते हैं। युगावतारके अवतरणके समयमें ही स्वयंभगवान् अवतीर्ण होते हैं। स्वयंभगवान् अवतीर्ण होते हैं ब्रह्माके एक दिनमें केवल एक बार। ब्रह्माके एक दिनमें एक हजार सत्य-युग, एक हजार त्रेतायुग, एक हजार द्वापरयुग एवं एक हजार कलियुग होते हैं। ब्रह्माके एक दिनके अन्तर्गत एक हजार द्वापरयुगोंमें-से केवलमात्र एक ही द्वापरयुगमें स्वयंभगवान् श्रीकृष्ण अवतीर्ण होते हैं, अवशिष्ट ९९९ द्वापरयुगोंमें वे अवतीर्ण नहीं होते ; किन्तु द्वापरके युगावतार इन ९९९

द्वापरोंके प्रत्येक द्वापरमें अवतीर्ण होते रहते हैं। जिस द्वापरमें श्रीकृष्ण अवतीर्ण होते हैं, उसका वैशिष्ठ्य होता है स्वयं-भगवान्‌का अवतरण ; अतएव उस द्वापरको विशेष द्वापर कहा जाता है। अवशिष्ट ९९९ द्वापरोंका ऐसा विशेषत्व न होनेके कारण उनको सामान्य या साधारण द्वापर कहा जाता है। इन साधारण ९९९ द्वापरोंमें द्वापरके युगावतार ही अवतीर्ण होते रहते हैं—वे होते हैं शुकपत्राभ। ९९९ सामान्य या साधारण द्वापरोंमें शुकपत्राभ अवतीर्ण होनेके कारण ही श्रीजीवपादने कहा है—सामान्यतः (साधारणतः) द्वापरके युगावतार होते हैं शुकपत्राभ। 'सामान्यतस्तु' में 'तु—किन्तु' शब्दकी व्यञ्जना यह होती है कि जिस द्वापरमें स्वयभगवान् श्रीकृष्ण अवतीर्ण होते है, उस विशेष द्वापरमें युगावतार शुकपत्राभ नहीं होते। जिस युगमें स्वयंभगवान् अवतीर्ण होते हैं, उस युगमें युगावतारके पृथक् रूपसे अवतीर्ण न होनेके कारण युगावतारका कार्य युगधर्म-प्रवर्तन स्वयंभगवान् ही करते हैं ; किन्तु युगधर्म प्रवर्तन होता है उनका आनुषङ्गिक कर्म, मुख्य कर्म नहीं।

गत द्वापरमें स्वयंभगवान् श्रीकृष्ण अवतीर्ण हुए थे, आनुषङ्गिक भावसे उन्होंने युगावतारका कार्य युगधर्म-प्रवर्तन भी किया था, इस कारण उन्हें भी युगावतार कहा जाता है। इसीलिए श्रीमन्महाप्रभुने युगावतार-कथन प्रसंगमें श्रीपाद सनातन गोस्वामीसे गत द्वापरके युगावतारके सम्बन्धमें कहा है—

> कृष्णपदार्चन हय द्वापरेर धर्म।
> कृष्णवर्णे कराय लोके कृष्णार्चन कर्म॥
>
> चै. च. २।२०।२८३

गत द्वापरयुगके सम्बन्धमें ऋषि करभाजनने भी निमि महाराजसे

कहा है—"**द्वापरे भगवान् श्यामः । भा. ११।५।२७।।**" युगधर्म प्रवर्तनकी दृष्टिसे विवेचना करनेपर गत द्वापरमें अवतीर्ण स्वयंभगवान् श्रीकृष्णको (श्यामको) युगावतार कहा जाता है। लघुभागवतामृतमें जो 'द्वापरे श्यामः' कहा है, वह पूर्वोल्लिखित श्रीभा. ११।५।२७ श्लोककी अथवा श्रीमन् महाप्रभुकी उक्तिकी प्रतिध्वनि मात्र है; अर्थात् गत विशेष द्वापरके युगावतारकी बात ही लघुभागवतामृतमें श्रीपाद रूप गोस्वामीने कही है, साधारण द्वापरके युगावतारकी बात नहीं। श्रीपाद जीव गोस्वामीने स्पष्ट भावसे कहा है—'**सामान्यतस्तु द्वापरे शुकपत्रवर्णत्वम्**'।

इस आलोचनासे जाना गया कि द्वापरके साधारण युगावतार होते हैं शुकपत्राभ। विष्णुधर्मोत्तरका यह स्पष्ट कहना है—

द्वापरे शुकपत्राभः कलौ श्यामः प्रकीर्तितः ।।

जो हो, अब पूर्व-प्रस्तावित विषयकी आलोचना की जाय। **कलिके युगावतार श्याम या कृष्ण हैं, उनका वर्ण भी श्याम या कृष्ण है, पूर्वोल्लिखित आलोचनासे यह जाना गया। श्याम या कृष्ण शब्दसे कभी भी पीत नहीं समझा जाता।** कलिके युगावतारका (साधारण युगावतारका) वर्ण पीत हो, यह किसी भी शास्त्र-प्रमाणसे सिद्ध नहीं है। अतएव **शुक्लो रक्तस्तथापीतः** (भा. १०।८।१३)—इस वाक्यमें शुक्ल और रक्तकी तरह पीतको भी कलिका युगावतार मान लेनेसे शास्त्र-वाक्यके साथ विरोध उपस्थित होता है; अतएव इस प्रकारका तात्पर्य ग्रहणीय नहीं हो सकता। विचारपूर्वक पीतवर्ण अवतारका स्वरूप-निर्णय करना होगा। विचारका उपादान भी **आसन् वर्णास्त्रयो ह्यस्य** (भा. १०।८।१३) श्लोकमें विद्यमान है।

श्लोकके मध्य 'तथा' एक शब्द है। **'तथा पीतः' यह 'तथा' शब्द ही विचारका उपादान है।**

अनेक बार पादपूर्णार्थ च, वै, तु, हि इत्यादि शब्द श्लोकमें व्यवहृत होते हैं; पादपूर्णार्थ व्यवहृत होनेपर इनका कोई अर्थ नहीं होता। किन्तु पाद पूर्णार्थ 'यथा' या 'तथा' शब्द व्यवहृत नहीं होते। अतएव इस श्लोकका 'तथा' शब्द निरर्थक नहीं है; श्लोकके अर्थ-निर्णयमें यह 'तथा' शब्द उपेक्षणीय नहीं है; 'तथा' शब्दकी व्यञ्जना ग्रहण किये बिना श्लोकका अभिप्रेत तात्पर्य समझमें नहीं आयगा और 'तथा' और 'यथा' शब्द एक साथ ही रहते हैं; जहाँ 'तथा' होता है वहाँ 'यथा' भी होता है, अथवा जहाँ 'यथा' रहता है वहाँ 'तथा' भी होता है—यह मानना होगा। किसी-किसी जगह छन्द मिलानेके लिए 'यथा' और 'तथा'—इन दोनों शब्दोंमें-से एक ऊह्य भी रहता है। इस श्लोकमें भी छन्दके अनुरोधसे 'यथा' शब्द लिखा नहीं गया; किन्तु 'यथा' ऊह्य है—यह मानना होगा एवं श्लोकके अर्थ-निर्णयके समय ऊह्य 'यथा' शब्दको लाना होगा; नहीं तो श्लोकका वास्तविक अर्थ न मिल पायगा।

अब देखना होगा कि श्लोकके किस शब्दके साथ 'यथा' शब्दका अन्वय होगा। 'तथा' शब्दके साथ जो 'पीत' शब्दका अन्वय है, यह तो श्लोकमें स्पष्ट ही नजर आता है 'तथा पीतः'।

श्लोकके प्रथमार्द्धमें दो अंश हैं—आसन् वर्णास्त्रयः' एवं 'गृह्णतोऽनुयुगं तनूः'। इन दो वाक्यांशके सहित 'यथा' शब्दका अन्वय हो सकता है या नहीं, यह देखा जाय।

'यथा आसन् वर्णास्त्रयः तथा पीतः—इस प्रकारके अन्वयका ही प्रथम विचार किया जाय। 'यथा' और 'तथा'

जिन दो शब्दों या वाक्योंको अन्वित करते हैं, उनके मध्य किसी भी विषयमें समानधर्म रहता है। यथा (जैसा चन्द्र, तथा (वैसा ही) इसका मुख। यहाँ सौन्दर्यांशमें चन्द्र और मुखका समान-धर्मत्व है। समान धर्मत्वके प्रकाशनके उद्देश्यसे ही 'यथा तथा' या 'जैसा वैसा' व्यवहृत होता है। 'यथा आसन् वर्णास्त्रयः तथा पीतः'—इस प्रकारके अन्वयमें यथा-तथाकी सार्थकता नहीं दीखती, क्योंकि 'आसन् वर्णास्त्रयः'—इस वाक्यके 'वर्णास्त्रयः' अंशमें ही 'पीतः' अन्तर्भुक्त है। शुक्ल, रक्त और पीत—इन तीन वर्णोंकी बात 'वर्णास्त्रयः' वाक्यमें कही गयी है। उल्लिखित अन्वयका निर्गलितार्थ होगा—यथा पीतः तथा पीतः। इसकी कोई सार्थकता नहीं है। अतः 'यथा आसन् वर्णास्त्रयः तथा पीतः' इस प्रकारका अन्वय आदरणीय नहीं हो सकता।

अब 'यथा गृह्णतोऽनुयुगं तनूः, तथा पीतः'—इस प्रकारका अन्वय आलोचित होता है। 'जिस प्रकार भिन्न-भिन्न तनु ग्रहण करते हैं, उसी प्रकार पीत हुए हैं'—यही उल्लिखित अन्वयका अर्थ होता है। यहाँ भी यथा-तथाकी सार्थकता नहीं दीखती; क्योंकि समान-धर्मत्वका अभाव है। 'तनु ग्रहण-व्यापार' एवं 'पीतवर्ण'—इन दोनों वस्तुओंका क्या समानधर्म हो सकता है?

इस प्रकार देखा गया कि श्लोकके प्रथमार्द्धमें 'यथा' शब्दका अन्वय करनेसे उसकी सार्थकता कुछ भी नहीं रहती।

अब देखा जाय कि श्लोकके द्वितीयार्द्धमें किस स्थानपर 'यथा' शब्दका अन्वय सार्थक एवं विचारपूर्ण हो सकता है।

'तथा पीतः' वाक्यांशके अतिरिक्त श्लोकके द्वितीयार्द्धमें दो वाक्यांश है—'शुक्लोरक्तः' एवं 'इदानीं कृष्णतां गतः'। इन दोनों वाक्योंमें-से एकके साथ 'यथा' शब्दका अन्वय करना ही होगा ; क्योंकि ऐसा न करनेसे 'यथा' शब्दका स्थान कहीं भी नहीं मिलेगा। जब 'तथा' शब्द है तब 'यथा' शब्द भी रखना ही होगा।

देखा जाय कि 'यथा शुक्लोरक्तः, तथा पीतः' इस प्रकार-का अन्वय विचारयुक्त हो सकता है या नहीं। 'यथा-तथा' शब्दों द्वारा अन्वित शब्दद्वय या वाक्यद्वयका समानधर्मत्व जब स्वीकार करना ही होगा, तब उल्लिखित अन्वय स्वीकार करनेसे 'शुक्लोरक्तः' एवं 'पीतः'—इन दोनोंका भी समानधर्मत्व स्वीकार करना होगा। शुक्ल एवं रक्त जब युगावतार हैं, तब यह भी स्वीकार करना होगा कि पीत भी युगावतार हैं और कलिका युगावतार हैं ; क्योंकि यह पहिले ही बताया जा चुका है कि पीतवर्णसे ही नन्द-तनय किसी कलिमें अवतीर्ण हुए थे। किन्तु शास्त्र-प्रमाण उद्धृत करके पहिले ही बताया जा चुका है कि कलिका युगावतार पीतवर्ण नहीं है। अतः स्पष्ट है कि 'यथा शुक्लोरक्तस्तथा पीतः' यह अन्वय स्वीकार करनेसे शास्त्रवाक्यसे विरोध उपस्थित होता है। इसलिए इस प्रकारका अन्वय ग्रहणीय नहीं हो सकता।

अब 'कृष्णतां गतः' वाक्यके साथ 'यथा' शब्दका अन्वय विवेचित होता है। पहिले ही बताया जा चुका है कि यह अन्वय स्वीकार करना ही होगा ; क्योंकि ऐसा न करनेसे 'यथा' शब्दको छोड़ना पड़ता है ; जब 'तथा' शब्द है तो 'यथा' भी रखना ही होगा।

'यथा कृष्णतां गतः, तथा पीतः (पीततां गतः)' इस

प्रकारके अन्वयमें समानधर्मत्व स्वीकार करना ही होगा। वह समानधर्मत्व क्या है ? यह पहिले ही बता दिया गया है कि 'इदानीं कृष्णतां गतः' वाक्यमें गर्गाचार्यजीने नन्दात्मजकी स्वयंभगवत्ताकी बात कही है। 'कृष्णतां गतः' वाक्यमें जब स्वयंभगवत्ता सूचित हुई है, तब स्वयंभगवत्ता ही होगा समान-धर्म। तात्पर्य यही है कि 'कृष्ण' जिस प्रकार स्वयंभगवान् हैं, उसी प्रकार 'पीत'—पीतवर्ण भगवत्स्वरूप भी स्वयंभगवान् हैं।

इस प्रकार 'यथा कृष्णतां गतः, तथा पीतः (पीततां गतः)' वाक्यसे जाना गया कि पूर्ववर्ती किसी कलिमें नन्दात्मज जिस पीतवर्णसे अवतीर्ण हुए थे, वह पीतवर्ण स्वरूप हैं स्वयंभगवान् ; वे युगावतार आदि अन्य कोई भी भगवत्स्वरूप नहीं हैं।

अतएव श्रीमद्भागवतके 'आसन् वर्णास्त्रयो ह्यस्य' इत्यादि श्लोकसे जाना गया—**पीतवर्ण एक स्वयंभगवत्स्वरूप भी हैं और वे किसी विशेष कलिमें अवतीर्ण** होते हैं।

ख। वासुदेव-नाम-प्रकटन—'आसन् वर्णास्त्रयो ह्यस्य' (भा. १०।८।१३) श्लोकमें यशोदानन्दनका 'कृष्ण' नाम प्रकट करके गर्गाचार्यजीने उनका एक और नाम 'वासुदेव' प्रकट किया है। व्रजराजसे उन्होंने कहा—

"प्रागयं वसुदेवस्य क्वचिज्जातस्तवात्मजः।
वासुदेव इति श्रीमानभिज्ञाः सम्प्रचक्षते ॥

भा. १०।८।१४

हे व्रजराज ! तुम्हारे इस सौभाग्यशाली पुत्रने पूर्वमें किसी समय वसुदेवके पुत्र रूपमें जन्म ग्रहण किया था ; इसलिए तत्वज्ञ व्यक्तिगण इसको 'वासुदेव' नामसे भी कहते हैं।"

व्रजराजका मनोगत अर्थ—गर्गाचार्यजीकी उक्ति सुनकर व्रजराजने सोचा कि "इस शिशुने इस बार मेरे पुत्र-रूपमें जन्म लिया है, प्रतीत होता है कि अपने एवं वसुदेवके पूर्वजन्ममें यह बालक वसुदेवका पुत्र था, उस जन्ममें वसुदेवका नाम भी इस जन्मकी तरह वसुदेव ही था। (**प्रागिति प्रकटार्थे तवात्मजोऽयं क्वचिदन्यत्र वसुदेवादपि जातस्तं कथं तत्राह प्राक् अस्य तस्य च पूर्वजन्मनीत्यर्थः। एवं श्रीवसुदेवस्य पूर्व-जन्मन्यपि तन्नामासीदिति श्रीनन्देनावगतम्॥ वैष्णवतोषिणी॥**) वसुदेव तो मेरे भ्राता एवं परम सुहृद हैं। उनका पूर्वजन्मका पुत्र इस बार मेरा पुत्र हुआ है, यह तो मेरे लिए परम आनन्दका विषय है। पूर्वजन्ममें भी मेरे इस परम सुहृद भ्राताका नाम वसुदेव था, यह भी अत्यन्त आनन्दकी बात है। इस बालकका नाम पूर्व जन्ममें भी वसुदेवसे जन्म लेनेके कारण 'वासुदेव' था, गर्गाचार्यजीने इस जन्ममें भी वही 'वासुदेव' नाम रखा है। बालकका यह 'वासुदेव' नाम मेरे परम सुहृद वसुदेवकी स्मृति सर्वदा मेरे चित्तमें जाग्रत रखकर मेरा परमानन्द विधान ही करेगा।"

गर्गाचार्यजीका अभिप्रेत अर्थ—किन्तु गर्गाचार्यजीने तो इस जन्ममें ही पहिले कंसके कारागारमें जन्मकी बात कही है। श्रीगर्गाचार्यका अभिप्राय यह है—"इस जन्ममें ही पहिले यह बालक कंसके कारागारमें वसुदेवके पुत्ररूपमें जन्मा था; तथापि यह बालक तुम्हारा ही आत्मज है। (**अप्रकटार्थे इहैव जन्मनि पूर्वं कंस-कारागारे वसुदेवाज्जातोऽपि तवात्मज एवेति पूर्वसिद्धान्तानुसारेण अन्यथा तवात्मज इत्यस्याधिक्यं स्यात्॥** वैष्णवतोषिणी ॥) तात्पर्य इस प्रकार है—पहिले कंसके कारागारमें जो चतुर्भुजरूपका आविर्भाव हुआ था, उन्हें

वसुदेवजीने अपना पुत्र ही माना था ; चतुर्भुज जब द्विभुज हो गये, तब उन द्विभुजको भी वसुदेवजीने अपना पुत्र माना था ; किन्तु यह द्विभुज रूप वास्तवमें यशोदानन्दन या नन्दनन्दन ही थे ।* संकेतमें गर्गाचार्यजीने यह तथ्य ही प्रकाश किया ।

ग । बहुत-से नाम-रूपोंकी कथा-प्रकटन—कृष्ण और वासुदेव—ये दो नाम प्रकाश करनेके बाद गर्गाचार्यजीने कहा—"व्रजराज ! तुम्हारे इस पुत्रके गुण-कर्मोंके अनुसार बहुत-से नाम एवं बहुत-से रूप हैं ; उन सब रूपों और नामोंकी बात मैं नहीं जानता, सब लोग भी नहीं जानते (भा. १०।८।१५) ।"

इस श्लोकको टीकामें 'तान्यहं वेद नो जनाः'—इस वाक्यकी टीकामें श्रीधर स्वामिपादने लिखा है—"तानि सर्वाणि अहमपि नो वेद, जना अपि नो विदुरिति ।—उन सब नामों और रूपोंकी सब बात मैं नहीं जानता, अन्य लोग भी नहीं जानते ।" और वैष्णवतोषणीने लिखा है—"नाहमपि वेद जना अपि न विदुरित्यर्थः—मैं भी नहीं जानता, अन्य लोग भी नहीं जानते ।"

व्रजराजका मनोगत अर्थ—गर्गाचार्यजीकी उक्ति

---

* श्रीजीवगोस्वामीने गोपाल चम्पूमें लिखा है कि नन्दालयमें आविर्भूत द्विभुज कृष्ण ही कंस-कारागारमें जाकर चतुर्भुज देवकी-नन्दनको अपने अन्तर्भुक्त कर स्वयं वहाँ द्विभुज रूपमें प्रकट हुए थे ।

श्रीरासबिहारी सांख्यतीर्थ सम्पादित	पूर्व चम्पू ३।६४
पुरीदास महाशय सम्पादित	पूर्व चम्पू ३।१०२
श्रीहरिनाम संकीर्तन मण्डल, वृन्दावन	पूर्व चम्पू ३।१२३
श्रीवनमालीदासजी शास्त्री, वृन्दावन	पूर्व चम्पू ३।१००

सुनकर महाराज नन्दने सोचा—"मेरे इस बालकके अनेक रूप हैं। सत्ययुगसे लेकर इस समय तक अनेक बार ही तो इस बालकने जन्म लिया है, भिन्न-भिन्न जन्मोंमें भिन्न-भिन्न रूप और भिन्न-भिन्न नाम जो थे, वे ही गर्गाचार्यजी कह रहे हैं। इसके अतिरिक्त गुण-कर्मोंके अनुसार इसके बहुत-से नाम थे, तो किसीके भी सद्‌गुण एवं सत्कर्म देख लोग उन सद्‌गुण और सत्कर्मोंके अनुसार उसके बहुत-से नाम प्रकाश कर उसकी ख्यातिका प्रचार करते रहते हैं। अतः स्पष्ट ही समझा जाता है कि पूर्वके बहुत-से जन्मोंमें मेरा यह बालक सत्कर्म और सद्‌गुणोंके द्वारा विशेषरूपसे प्रसिद्ध हुआ था। पूर्व जन्मोंमें इसके इस प्रकारके सद्‌गुण और सत्कर्म थे, तो इस जन्ममें भी अवश्य ही यह सद्‌गुण और सत्कर्म द्वारा विशेष प्रतिष्ठा प्राप्त करेगा।"— इस प्रकार सोचकर व्रजराज नन्दने परमानन्दका अनुभव किया।

उन्होंने और भी सोचा—गर्गाचार्यजीने कहा है "तान्यहं वेद नो जनाः।—उन सब नामों और रूपोंकी बात सर्वज्ञ गर्गाचार्य जानते हैं, किन्तु अन्य लोग नहीं जानते। (तान्यहं वेद जनास्तु न विदुरित्यर्थः। प्रकटार्थसम्बन्धे वैष्णवतोषिणी।) अन्य लोग किस प्रकारसे जान सकते हैं?"

गर्गाचार्यजीका अभिप्रेत अर्थ—इस श्लोकमें गर्गाचार्यजीने श्रीकृष्णके सम्बन्धमें एक विशेष तथ्य प्रकाश किया है। उन्होंने बताया कि गुण-कर्मोंके अनुसार इस नन्दात्मजके बहुत-से नाम और बहुत-से रूप हैं। वे सब नाम और रूप क्या है? टीकामें श्रीधर स्वामिपादने लिखा है— "**गुणानुरूपाणि ईश्वरः सर्वज्ञ इत्यादीनि कर्मानुरूपाणि गोपतिर्गोवर्द्धनोद्धरण इत्यादीनि ॥** गुणानुरूप नाम होते हैं ईश्वर, सर्वज्ञ इत्यादि और कर्मानुरूप नाम होते हैं गोपति,

गोवर्द्धनोद्धरण इत्यादि ।" वैष्णवतोषिणीने लिखा है— **"गुणानुरूपाणि श्रीनारायण-नृसिंहादीनि, कर्मानुरूपाणि मत्स्यादीनि, अथ गुणानुरूपाणि नामानि भक्तवत्सल इत्यादीनि, कर्मानुरूपाणि जगत्स्रष्टा जगत्पालक इत्यादीनि ॥**—गुणानुसार श्रीनारायण-नृसिंहादि रूप, कर्मानुसार मत्स्यादि रूप ; इसके अतिरिक्त गुणानुसार भक्तवत्सल आदि नाम, कर्मानुसार जगत्स्रष्टा, जगत्पालक आदि नाम ।"

इस प्रकार गर्गाचार्यजीने बताया—"श्रीनारायण-नृसिंह आदि भगवत्स्वरूप समूह, मत्स्य-कूर्मादि लीलावतार-समूह भी इन नन्दनन्दनके ही रूप हैं। ईश्वर, सर्वज्ञ, गोपति (गोपाल), गोवर्धनोद्धरण, भक्तवत्सल, जगत्स्रष्टा, जगत्पालक आदि भी नन्दनन्दनके ही नाम हैं।

'तान्यहं वेद नो जनाः'—इस वाक्यसे गर्गाचार्यका अभिप्राय यह है कि "इन सब नामों एवं रूपोंकी कथा सम्पूर्ण मैं भी नहीं जानता, अन्य लोग भी नहीं जानते।" इस उक्तिका तात्पर्य है—"इन नन्दनन्दनके नाम और रूप होते हैं संख्यामें अनन्त ; अनन्त होनेके कारण किसीके भी लिए उन सबको जानना संभव नहीं है, सर्वज्ञ गर्गाचार्यजीके लिए भी असम्भव है ; क्योंकि अनन्त शब्दका अर्थ ही होता है 'जिसका अन्त नहीं है।' एक व्यक्ति भी यदि अन्त पा ले (सब जाननेपर ही अन्त पाया जा सकता है), तब उसको वस्तुतः अनन्त नहीं कहा जाता।" इस श्लोकमें 'बहु' शब्दसे गर्गाचार्यजीने संकेतसे नन्दात्मजके नामों और रूपोंकी अनन्तताको ही बताया है।

इसके अतिरिक्त इन अनन्त नामों और रूपोंके सम्बन्धमें गर्गाचार्यजीने वर्तमान-काल-वाचक 'सन्ति—है' क्रियापद व्यवहार

किया है। 'नन्दात्मजके अनन्त नाम और अनन्त रूप हैं'— यही बात उन्होंने कही, अतीत-काल-वाचक 'आसन्—थे' नहीं कहा। इसके पहिले उन्होंने नन्दात्मजके केवल दो नाम प्रकट किये—कृष्ण और वासुदेव (भा. १०।८।१३.१४) अब कहते हैं (भा. १०।८।१५) उनके नाम अनन्त है—इसका क्या तात्पर्य है ? इसका तात्पर्य है इस प्रकार—वैष्णवतोषणीकार कहते हैं—

"सन्ति इत्यनेन सच्चिदानन्दघनरूपाणां रूपाणामिव नाम्नामपि नित्यता सूचिता, सा च गुणकर्मानुरूपाणोति साधिता, गुणानां नित्य भगवत् समवेतत्वान्नित्यता सिद्धा, तथा कर्मणां च श्रीगोवर्द्धनधरकालीयदमनाद्युपासनानामनादिसिद्धवेदप्रसिद्धेः ॥"

भमर्थि—"सन्ति—इस वर्तमान-काल-वाचक क्रिया पदसे नित्यत्व सूचित होता है, नाम और रूप—दोनोंका ही नित्यत्व सूचित होता है। श्रीकृष्ण सच्चिदानन्द विग्रह हैं, सच्चिदानन्द विग्रह होनेके कारण श्रीकृष्णके रूप और विग्रह नित्य हैं; नारायण-नृसिंह-मत्स्य आदि जिन सब अनन्त रूपोंसे वे आत्म-प्रकट करके विराजित हैं, सच्चिदानन्दके रूप होनेके कारण वे सब भी नित्य हैं; उन सब रूपोंकी तरह उनके नाम भी नित्य हैं। भगवान्के गुण-समूह भगवत्-समवेत होनेके कारण, अर्थात् भगवान्के स्वरूपभूत होनेके कारण, भगवान्के एवं उनके विभिन्न रूपोंके गुण-समूह भी नित्य है। भगवान्के कर्म भी नित्य हैं। गोवर्धन-धर, कालियदमन आदि हैं कर्मानुरूप नाम ; गोवर्धन-धर आदि रूपोंकी उपासना अनादि सिद्ध वेद-प्रसिद्ध है। अनित्य वस्तुकी उपासनाकी सार्थकता कुछ नहीं है, नित्य वस्तुकी उपासना ही सार्थक है। गोवर्धनधर आदि कर्मानुयायी रूपोंकी उपासना जब अनादि-सिद्ध वेदोंमें प्रसिद्ध है, तब उनके कर्म भी नित्य हैं—इसमें कोई सन्देहका

अवकाश नहीं रह सकता।" इस प्रकार जाना गया कि 'सन्ति' इस वर्तमान-काल-वाचक क्रियापदके द्वारा गर्गाचार्यजीने नन्दात्मजके अनन्त रूपोंकी, अनन्त नामोंकी, अनन्त कर्मोंकी एवं अनन्त गुणोंकी नित्यता ही ख्यापित की है।

वर्तमान-काल-वाचक क्रियापद नित्यत्वका द्योतक है, श्रुतिवाक्यसे भी यह जाना जाता है। आनन्दस्वरूप परब्रह्मके सम्बन्धमें श्रुतिने कहा है—"ऐसो हि एव आनन्दयाति—ये ही आनन्द दान करते हैं।" किसी एक निर्दिष्ट समयमें ही ये आनन्द दान करते हैं, अन्य समय नहीं—यह श्रुतिवाक्यका तात्पर्य नहीं है। वे सर्वदा ही, नित्य ही आनन्द दान करते हैं। यहाँ 'आनन्दयाति'—इस वर्तमान-काल-वाचक क्रिया-पदसे परब्रह्मके आनन्ददातृत्वका नित्यत्व सूचित हुआ है। परब्रह्मके सम्बन्धमें श्रुतिने और भी कहा—"**एकोऽपि सन् यो बहुधा विभाति**—वे एक होकर भी बहु-रूपोंमें विराजित हैं।" अनादि-कालसे वे नारायण राम-नृसिंहादि बहुरूपोंसे आत्मप्रकट करके विराजित हैं। नारायण आदि भगवत्स्वरूपोंके नित्यत्वके सम्बन्धमें सन्देहको अवकाश नहीं है; नित्य होनेके कारण नारायणादि-स्वरूपोंकी उपासना वेद-प्रसिद्ध है। यहाँ पर 'विभाति' इस वर्तमान-काल-वाचक क्रिया पदसे नित्यत्व सूचित होता है।

'बहूनि सन्ति नामानि'—इत्यादि (भा. १०।८।१५)

श्लोकोक्तिका उद्देश्य—गर्गाचार्यने 'बहूनि सन्ति नामानि' इत्यादि श्लोकका उल्लेख क्यों किया? इस श्लोकमें गर्गाचार्यजी यदि नन्दात्मजके कोई भी नाम प्रकाश करते, तब तो नाम-करणके प्रसंगमें इसके उल्लेखकी सार्थकता होती। पूर्ववर्ती 'प्रागयं वसुदेवस्य' इत्यादि (भा. १०।८।१४) श्लोकमें एक

नामका प्रकाश किया गया है, 'आसन् वर्णास्त्रयो ह्यस्य' इत्यादि (भा. १०।८।१३) श्लोकमें भी एक नामका प्रकाश किया गया है ; इसलिए इन दोनों श्लोकोंकी सार्थकता है। किन्तु 'बहूनि सन्ति नामानि' श्लोकमें जब एक नाम भी व्यक्त न किया जाय, तब इस श्लोककी उक्तिकी सार्थकता नहीं दीखती। इसके अतिरिक्त वर्तमान-काल-वाचक 'सन्ति' क्रिया-पदका व्यवहार न करके यदि भविष्यत्-काल-वाचक 'भविष्यन्ति' क्रिया-पद व्यवहार किया जाता, तब भी भविष्यमें गुण-कर्मानुसार नन्दात्मजके बहुत-से नाम प्रकाश होंगे—इस प्रकारकी व्यञ्जनासे इस श्लोकोक्तिकी सार्थकता होती ; किन्तु गर्गाचार्यजीने भविष्यत्-काल-वाचक क्रियापदका भी व्यवहार नहीं किया। भविष्यत्-काल-वाच कक्रियापदका व्यवहार करनेपर भी 'रूपाणि—गुणकर्मानुसार बहुत-से रूप' होंगे, इस प्रकारकी उक्तिकी कोई सार्थकता न रहती ; क्योंकि एक व्यक्ति एक ही जन्ममें बहुत-से रूप धारण किये बिना भी गुणकर्मानुसार बहुत-से नामोंसे जाना जा सकता है, ऐसी अवस्थामें गर्गाचार्यजीने नन्दात्मजके नाम-करण प्रसंगमें इस श्लोकका क्यों उल्लेख किया ? उनका उद्‌देश्य क्या है ?

श्लोक का उद्‌देश्य इस प्रकार है—"प्रथमोक्त आसन् वर्णास्त्रयो ह्यस्य' इत्यादि (भा. १०।८।१३) श्लोकमें 'इदानीं कृष्णतां गत:' वाक्यमें उनके द्वारा नन्दात्मजकी आकर्षकता-प्राप्तिकी बात बतायी गयी है। किसको या किनको आकर्षण करके नन्दात्मज 'कृष्णता या आकर्षकता' को प्राप्त हुए, यही बात 'बहूनि सन्ति नामानि' इत्यादि श्लोकमें सकेतसे बतायी है । नन्दात्मज अनादि कालसे नारायण-नृसिंह-मत्स्यादि अनन्त भगवत्स्वरूपोंसे आत्म प्रकट करके विराजित हैं, उन्हींने

नारायण-नृसिंह आदि अनन्त एवं नित्य भगवत्स्वरूपोंको आकर्षित कर अपनेमें अन्तर्भुक्त किया है, इसीसे उनकी 'कृष्णता या आकर्षकता' सिद्ध हुई है"—यही बतानेके उद्देश्यसे गर्गाचार्यजीने 'बहूनि सन्ति' इत्यादि श्लोकका उल्लेख किया है।

प्रश्न हो सकता है कि नारायण-नृसिंहादिको आकर्षण करके अपनेमें अन्तर्भुक्त करनेके कारण ही नन्दात्मजके सम्बन्धमें पहिले 'कृष्णतां गतः' कहा गया है—यह बात तो गर्गाचार्यजीने स्पष्ट रूपमें कही नहीं। ऐसी अवस्थामें किस प्रकार स्वीकार किया जाय कि उल्लिखितरूप उद्देश्यसे गर्गाचार्यजीने 'बहूनि सन्ति नामानि' इत्यादि श्लोकका उल्लेख किया है ?

इस सम्बन्धमें वक्तव्य इस प्रकार है। गर्गाचार्यजी यदि बहुत स्पष्ट भावसे नन्दात्मज द्वारा नारायण आदिके आकर्षणकी बात कहते, तो व्रजराज नन्द सोचते—"गर्गाचार्यजी ये क्या कह रहे हैं ? अवतीर्ण होनेके समय स्वयंभगवान् ही तो अन्य सब भगवत्स्वरूपोंको आकर्षित कर अपने मध्य ले आते हैं। गर्गाचार्य मेरे छोटे-से बालकको स्वयंभगवान् कहते हैं, इससे बच्चेका अमङ्गल होगा"—इत्यादि सोचकर व्रजराज मनमें अत्यन्त दुःख अनुभव करते। अपने पुत्रकी अमङ्गल आशंका कर व्रजराजके मनमें किसी प्रकारका दुःख न हो, इस भावसे ही गर्गाचार्यजीने यहाँ तक सब बातें कहीं ; जिससे व्रजराज अपने भावके अनुसार अर्थ समझकर आनन्द पावें, और नन्दात्मजका वास्तविक तथ्य भी प्रकट हो जाय, इस भावसे पूर्ववर्ती दो श्लोकों (भा. १०।८।१२,१३) में गर्गाचार्यजीने जिस प्रकार कहा है, इस 'बहूनि सन्ति नामानि' (भा. १०।८।१५) श्लोकमें भी उसी प्रकार उन्होंने अपना अभिप्राय संकेतमें बता

दिया। इसको स्वीकार किये बिना इस श्लोकके उल्लेखकी कोई सार्थकता खोजनेपर भी नहीं मिलती।

जो हो, इस आलोच्य श्लोकमें भी गर्गाचार्यने नन्दात्मजकी स्वयंभगवत्ताकी ही बात संकेतसे प्रकाश की है। ये स्वयंभगवान् श्रीकृष्ण ही किसी कलिमें पीतवर्ण-स्वयंभगवत्स्वरूप रूपसे अवतीर्ण हुए थे, 'आसन् वर्णास्त्रयो ह्यस्य' श्लोकके 'तथा पीतः' वाक्यमें यही बात गर्गाचार्यजीने संकेतसे बतायी है।

इस प्रकार जाना गया कि स्वयंभगवान् श्रीकृष्णका पीतवर्ण एक स्वयंभगवत्स्वरूप भी है एवं वे किसी कलिमें अवतीर्ण हुए थे। श्रीमद्भागवतके 'आसन् वर्णास्त्रयो ह्यस्य' श्लोकसे यही जाना गया।

महाभारतमें 'सुवर्ण वर्णो हेमाङ्गः' इत्यादि श्लोक—

महाभारतमें 'विष्णुसहस्रनाम' स्तोत्रमें कहा गया है—

सुवर्णवर्णो हेमाङ्गो वराङ्गश्चन्दनादी। (श्लोक संख्या ९२)

यहाँ पर भी श्रीविष्णु (सर्वव्यापक परब्रह्म) का एक नाम मिलता है **'हेमाङ्ग'**। हेमका अर्थ है सुवर्ण ; सुवर्णका वर्ण भी पीत होता है। हेमके अर्थात् सुवर्णके जैसा अङ्ग हो जिनका, वे हेमाङ्ग। 'हेमाङ्ग' शब्दसे पीतवर्ण भगवत्स्वरूप ही सूचित होता है। इस प्रकार महाभारतसे भी जाना गया कि पीतवर्ण एक भगवत्स्वरूप हैं।

श्रीमद्भागवतके श्लोकके आलोचना-प्रसंगमें जाना जा चुका है कि पीतवर्ण एक स्वयंभगवत्स्वरूप हैं। पृष्ठ ७८ के परवर्ती ८ अनुच्छेदकी आलोचनासे जाना जायगा कि श्रुतिने भी एक

---

* महाप्रभु श्रीगौराङ्गके दूसरे अध्यायका ६ठा अनुच्छेद·

पीतवर्ण स्वयंभगवत्-स्वरूपकी बात कही है। अन्य किसी भी भगवत्स्वरूपके पीतवर्णकी बात शास्त्रोंमें नहीं मिलती। अतएव महाभारतोक्त 'हेमाङ्ग या पीतवर्ण' भगवत्स्वरूप स्वयंभगवान् है, यह जाना गया।

इस प्रकार महाभारतसे भी 'पीतवर्ण-स्वयंभगवत्स्वरूप' की बात जानी गयी।

श्रुति-प्रमाणकी आवश्यकता*

अष्टादश महापुराण एवं इतिहास (महाभारत) वेदोंका या श्रुतिका तात्पर्य ही वर्णन करते हैं। इसलिए इन समस्त वेदानुगत शास्त्रोंको 'स्मृति' कहा जाता है। सभी स्मृतिग्रन्थ वेदानुगत एवं वेदार्थप्रकाशक होनेके कारण यह बात मनमें आ सकती है कि कहीं भी स्मृतिके साथ वेदोंका या श्रुतिका विरोध नहीं हो सकता। किन्तु एक सर्वजन-स्वीकृत न्याय है ; जैसे—

"श्रुतिस्मृतिविरोधे तु श्रुतिरेव गरीयसी

—श्रुति और स्मृतिके मध्य विरोध उपस्थित होनेपर श्रुतिको ही गरीयसी मानना होगा, अर्थात् ऐसे विरोध-स्थलमें श्रुति-वाक्य ही गृहीत होगा, स्मृति-वाक्य गृहीत नहीं होगा।" इससे जाना गया कि कभी-कभी किसी-किसी विषयमें श्रुतिके साथ स्मृतिका विरोध हो सकता है।

किन्तु वेदानुगत शास्त्रोंके साथ वेदोंका या श्रुतिका विरोध किस प्रकार सम्भव हो सकता है ? किस प्रकार होता है, यह बात श्रीशुकदेव गोस्वामीकी एक उक्तिसे जाना जाता है ; श्रीशुकदेवजीने महाराज परीक्षितसे कहा है—

---

* महाप्रभु श्रीगौराङ्गके दूसरे अध्यायका ७वाँ अनुच्छेद.

"एवं वदन्ति राजर्षे ऋषयः के च नान्विताः ।
यत् स्ववाचो विरुध्येत नूनं ते न स्मरन्त्युत ॥
भा. १०।७७।३०

(मायावी शाल्वके द्वारा वसुदेवकी एक मायामूर्तिका सृजनकर, श्रीकृष्णके समक्ष तलवारसे उस मायामूर्तिका शिर काटे जानेपर, स्वजन-स्नेहवश श्रीकृष्ण मोहित होकर शोकग्रस्त-से हो गये। पश्चात् वे अवश्य जान गये कि जिनका शिर काटा गया है, वह वसुदेवकी मायामूर्ति ही है, वास्तविक नहीं। इस घटनाका उल्लेख करके श्रीशुकदेव गोस्वामीने महाराज परीक्षितसे कहा था) हे राजर्षे! पूर्वापर अनुसन्धान-रहित कोई-कोई ऋषि इस प्रकारकी बात (शाल्वके द्वारा वसुदेव मारे गये थे एवं श्रीकृष्ण उसको देखकर शोकसे-दुःखसे मोहित हो गये थे, इस प्रकारकी बात) कहते हैं; इससे उनके अपने ही वाक्यके सहित जो विरोध उत्पन्न होता है, उसको वे भूल जाते हैं।"

श्रीशुकदेवजीकी उल्लिखित उक्तिसे जाना जाता है कि कोई-कोई ऋषि कभी-कभी पूर्वापर अनुसन्धान किये बिना ही कोई-कोई विवरण—संभवतः किं-वदन्ति-मूलक विवरण भी—प्रकट करते रहते हैं। ऋषियोंके इस प्रकारके वर्णनके साथ श्रुतिका विरोध हो सकता है। ऐसे स्थलमें श्रुतिवाक्य ही ग्रहणीय होगा, स्मृतिग्रन्थमें उल्लिखित ऋषियोंके ऐसे पूर्वापर विचारहीन वाक्य ग्रहणीय नहीं होंगे। क्योंकि, 'श्रुतिरेव गरीयसी'।

अतएव किसी भी स्मृति-वाक्यकी वास्तविक सत्यता निर्धारणके लिए श्रुतिप्रमाण अति आवश्यक है।

पहिले श्रीमद्भागवत एवं महाभारतके प्रमाणसे बताया जा चुका है कि एक पीतवर्ण स्वयंभगवत्स्वरूप भी हैं। इस उक्तिके समर्थनमें कोई श्रुतिवाक्य यदि हो तो उसे निःसन्देहरूप से स्वीकार किया जा सकता है।

पीतवर्ण स्वयंभगवत्स्वरूपके सम्बन्धमें श्रुति-प्रमाण—*

मुण्डक श्रुतिके एक वाक्यसे एवं मैत्रायणी श्रुतिके एक वाक्यसे भी एक रुक्मवर्ण पुरुषकी बात जानी जाती है और वे स्वयंभगवान् परब्रह्म हैं, यह भी जाना जाता है। 'रुक्म' शब्दका अर्थ है स्वर्ण। 'रुक्मवर्ण' शब्दका अर्थ होगा स्वर्णवर्ण, महाभारतोक्त 'हेमाङ्ग'। स्वर्णका वर्ण होता है पीत। इस प्रकार जाना गया कि मुण्डक-श्रुतिके एवं मैत्रायणी-श्रुतिके रुक्मवर्ण-स्वयंभगवान् हैं पीतवर्ण स्वयंभगवान्।

क। मुण्डकश्रुति-वाक्य— अब मुण्डकश्रुति-वाक्यकी आलोचना करते हैं। वाक्य इस प्रकार है—

"यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं
कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्।
तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय
निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति॥
मुण्डक ३।१।३

—जब कोई कर्ता, ईश्वर, ब्रह्मयोनि रुक्मवर्ण पुरुषका दर्शन करता है, तब (उसी क्षण) उसके पुण्य और पाप विधौत हो जाते हैं, वह निरञ्जन हो जाता है, एवं विद्वान् हो जाता है और परम-साम्य प्राप्त करता है।"

---

* महाप्रभु श्रीगौराङ्गके दूसरे अध्यायका ८वाँ अनुच्छेद.

श्रुतिवाक्यके प्रथमार्द्धके शब्दोंका तात्पर्य—अब श्रुतिवाक्यके प्रथमार्द्धके शब्दोंका तात्पर्य आलोचित होता है—

पश्यः – शब्दका अर्थ श्रीपाद शङ्कराचार्यने लिखा है—'पश्यति इति पश्यः—जो दर्शन करते हैं, वे हैं पश्य'। अतएव यहाँपर 'पश्यः' शब्दका अर्थ है दर्शनकर्ता—दर्शनकारी कोई भी व्यक्ति। यहाँपर 'पश्यः' शब्दका कोई विशेषण देखनेमें नहीं आता ; इससे समझा जाता है कि निर्विशेष भावसे किसी द्रष्टाकी बात कही गयी है ; पापी हो चाहे पुण्यात्मा हो, धार्मिक हो चाहे अधार्मिक हो, साधक हो चाहे साधक न हो, कैसे भी द्रष्टाकी बात श्रुतिवाक्यमें कही गयी है।

इस श्रुति-वाक्यके भाष्यमें श्रीपाद शङ्कराचार्यने लिखा है—"पश्यः पश्यतीति विद्वान् साधक इत्यर्थः।" यहाँपर उन्होंने 'पश्यः' शब्दका अर्थ किया है—'विद्वान् साधक'। किन्तु श्रुतिवाक्यने कहा है केवल 'पश्यः—द्रष्टा', वह द्रष्टा 'विद्वान साधक' हो—यह बात श्रुतिने नहीं कही। श्रीपाद शङ्कराचार्यने अपने भाष्यमें आगे लिखा है—**"स यदा चैव पश्यति, तदा स विद्वान् पश्यः पुण्यपापे बन्धनभूते कर्मणी समूले विधूय-इत्यादि।"** यहाँपर भी उन्होंने 'स विद्वान् पश्यः—वही विद्वान् द्रष्टा है' लिखा है। श्रुतिवाक्यमें 'पश्यः' शब्दका 'विद्वान' विशेषण नहीं है ; किन्तु उन्होंने 'पश्यः' शब्दका एक विशेषण अपनी इच्छासे जोड़ दिया है। 'तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय' इत्यादि वाक्यस्थित 'विद्वान्' शब्दको भी 'पश्यः' शब्दका विशेषण नहीं कहा जा सकता ; क्योंकि "यदा पश्यः पश्यते............... ब्रह्मयोनिम्"—वाक्यमें रुक्मवर्ण पुरुषके दर्शनकी बात कही गयी है ; उसके पश्चात् "तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय"

इत्यादि वाक्यमें उस दर्शनके फलकी बात कही गयी है। जिस वाक्यमें दर्शनके फलकी बात कही गयी है, उसके अन्तर्भुक्त 'विद्वान्' शब्द भी दर्शनका फल ही सूचित करता है। दर्शन हुआ कारण, फल हुआ उसका कार्य ; कार्य सूचक कोई भी शब्द कारणका विशेषण नहीं हो सकता। यदि कहा जाय—"जब कोई व्यक्ति इस औषधका सेवन करता है, तब वह दुर्बलता परिहार—दूर करके कर्मक्षम (कार्य करनेमें सक्षम) और प्रशंसार्ह (प्रशंसाके योग्य) होता है, तब औषध-सेवन होगा कारण, दुर्बलता परिहार आदि होंगे उसके फल या कार्य। यहाँपर कार्यवाचक या फलवाचक वाक्यके अन्तर्गत 'कर्मक्षम' शब्दको कारणवाचक वाक्यके अन्तर्भुक्त 'व्यक्ति' शब्दका विशेषण माननेकी सार्थकता कुछ भी नहीं है ; 'कर्मक्षम' शब्दको 'व्यक्ति' शब्दका विशेषण माननेपर वाक्य होगा—"जब कोई कर्मक्षम व्यक्ति इस औषधका सेवन करता है, तब दुर्बलता दूर करके प्रशंसार्ह होता है।" इस वाक्यकी कोई सार्थकता नहीं दीखती। जो व्यक्ति कर्मक्षम है, उसके लिए दुर्बलता परिहारका प्रश्न ही नहीं उठ सकता ; दुर्बलता रहनेपर कर्मक्षम कैसे हुआ जा सकता है ?

इस प्रकार देखा गया कि कारण-स्थानीय 'यदा पश्यः'—इत्यादि वाक्यके अन्तर्भुक्त 'पश्यः' शब्दका विशेषण रूपसे कार्य स्थानीय 'तदा विद्वान्' इत्यादि वाक्यके अन्तुर्भुक्त 'विद्वान्' शब्दकी योजना संगत नहीं होती। कहा जा सकता है कि—'पश्यः—द्रष्टा' यदि विद्वान् साधक न हो, तब रुक्मवर्ण पुरुषके दर्शन-मात्रसे उसके पुण्य-पाप किस प्रकार नष्ट होंगे ? साधकके अतिरिक्त कोई भी पुण्य-पाप-रूप कर्मफलसे छुटकारा नहीं पा

सकता। इन सब बातोंका विचार करके ही श्रीपाद शङ्कराचार्यने 'पश्यः' शब्दके अर्थमें लिखा है 'विद्वान् साधक'।

इसके उत्तरमें वक्तव्य इस प्रकार है। जो कहा गया है, वह है केवल युक्तिमात्र। युक्तिकी सहायतासे लक्षणावृत्ति अर्थ करनेमें श्रुतिकी स्वतः प्रमाणता नहीं रहती ; मुख्य वृत्तिसे अर्थ करनेसे ही श्रुतिकी स्वतः प्रमाणता रहती है। प्रश्नकर्ताने जो युक्ति अवतरित की है, वह है साधारण—साधन-भजनके बिना कर्मफलसे छुटकारा नहीं मिलता ; अतएव साधन-भजन करना ही होगा ; यह हुई साधारण विधि। किन्तु रुक्मवर्ण ब्रह्मयोनिके दर्शनसे एक असाधारण माहात्म्यकी बात श्रुतिवाक्यका अभिप्राय नहीं है—इसको माननेका हेतु क्या है ? बल्कि यही श्रुतिवाक्यका अभिप्राय है, विशेषणहीन 'पश्यः' शब्दसे यही समझा जाता है। जो कोई भी रुक्मवर्ण पुरुषके दर्शन करते हैं, उसी क्षण उनके पुण्य-पाप नष्ट हो जाते हैं और वे निरञ्जन विद्वान हो जाते हैं ; विशेषणहीन 'पश्यः—द्रष्टा' शब्दसे यही सूचित होता है। श्रुतिवाक्यके मुख्यार्थमें इसी प्रकारका अर्थ मिलता है।

जो हो, अब अन्य शब्दादिका तात्पर्य आलोचित होता है।

पश्यते—अर्थ पश्यति, दर्शन करता है ; दृश्-धातुका वर्तमान कालका प्रथम पुरुषका एक वचनका रूप। आधुनिक रूप—'पश्यति' ; ऐसा प्रतीत होता है कि 'पश्यते' वैदिकरूप है।

'दृश्' धातुसे निष्पन्न 'पश्यते' है सकर्मक क्रिया ; इस क्रिया पदका कर्म है 'पुरुषम्' ; कर्मकारक होनेके कारण द्वितीया विभक्ति।

'पुरुषम्' शब्दके कई विशेषण उल्लिखित हुए हैं—रुक्मवर्णम्, कर्तारम्, ईशम् एवं ब्रह्मयोनिम्। इन विशेषणोंका तात्पर्य विवेचित होता है।

ब्रह्मयोनिम्—'पुरुषम्' शब्दका विशेषण ; द्वितीया विभक्त्यन्त 'पुरुषम्' शब्दका विशेषण होनेके कारण द्वितीया-विभक्ति युक्त। प्रथमामें होगा—ब्रह्मयोनिः।

ब्रह्मयोनि शब्दका अर्थ—ब्रह्मकी योनि, या मूल, या निदान। ब्रह्मयोनि शब्दके अर्थमें श्रीपाद शङ्कराचार्यने लिखा है—"ब्रह्मयोनिं ब्रह्म च तद्योनिश्च असौ ब्रह्मयोनिस्तं ब्रह्मयोनिं ब्रह्मणो वापरस्य योनिम्।—ब्रह्म एवं उसकी योनि जो है, वे ब्रह्मयोनि ; ब्रह्मकी या अन्यकी योनि।" योनि शब्दका अर्थ होता है—मूल, निदान। जो स्वयं ब्रह्म हैं एवं ब्रह्मके मूल हैं, वे ब्रह्मयोनि। जो ब्रह्मके या दूसरेके मूल, निदान हैं, वे ब्रह्मयोनि।

ब्रह्म एवं आत्मा—इन दोनों शब्दोंके मुख्यार्थसे परब्रह्म श्रीकृष्णको ही समझा जाता है ; तथापि रूढ़ि अर्थमें ब्रह्म शब्दसे निर्विशेष ब्रह्मको एवं आत्मा शब्दसे जो अन्तर्यामी परमात्माको समझा जाता है।

'ब्रह्म आत्मा' शब्दे यदि कृष्णके कहय।
रूढ़ि-वृत्ते निर्विशेष अन्तर्यामी कय॥

च. च. म. २४।५८

शब्द सुनने मात्रसे जो अर्थ हृदयमें जाग्रत हो, उसको कहते हैं रूढ़ि वृत्तिका अर्थ। जैसे 'गो' शब्दके अनेक अर्थ होते हैं—पृथिवी, किरण, इन्द्रिय, गाय इत्यादि। किन्तु 'गो' शब्द सुनते ही गायकी बात मनमें आती है। यहाँपर 'गाय' होता है 'गो'

शब्दका रूढ़िवृत्तिका अर्थ। 'मण्डप' शब्दका वास्तविक अर्थ होता है मण्डपायी (मण्ड पीनेवाला); किन्तु 'मण्डप' शब्द सुनते ही हम एक गृहको समझते हैं। यह 'गृह' होता है 'मण्डप' शब्दका रूढ़िवृत्तिका अर्थ। इसी प्रकार, मुख्य अर्थमें 'ब्रह्म' शब्दसे परब्रह्मको बतानेपर भी 'ब्रह्म' शब्द सुनने मात्रसे निर्विशेष ब्रह्मकी बात ही हमारे मनमें आती है। निर्विशेष ब्रह्म हुआ 'ब्रह्म' शब्दका रूढ़िवृत्तिका अर्थ।

'ब्रह्म' शब्दके मुख्य अर्थमें जो परब्रह्म समझा जाता है, वह परब्रह्म ही हैं सबके आदि, सबके मूल, सबके निदान। अतएव निर्विशेष ब्रह्मका भी मूल, निदान। निर्विशेष ब्रह्म परब्रह्मका ही एक प्रकाश होनेके कारण परब्रह्म हुए निर्विशेष ब्रह्मके मूल या निदान—योनि। श्रीपाद शङ्कराचार्यने ब्रह्मयोनि शब्दके एक अर्थमें लिखा है—"ब्रह्मणो वापरस्य योनि—ब्रह्मकी या अन्य किसीकी भी योनि जो हैं, वे ब्रह्मयोनि।" यहाँपर उन्होंने ब्रह्मयोनिको जिस ब्रह्मकी योनि बताया है, वे ब्रह्म हैं निर्विशेष ब्रह्म, परब्रह्म नहीं; क्योंकि परब्रह्म अनादि एवं सर्वादि होनेके कारण उनका आदि या योनि हो नहीं सकते। ब्रह्मयोनि शब्दके एक और अर्थमें श्रीपाद शङ्कराचार्यने लिखा है—"ब्रह्मयोनि ब्रह्म च तद् योनिश्च असौ ब्रह्मयोनिस्तम्—जो स्वयं ब्रह्म हैं एवं ब्रह्मकी योनि भी, वे ब्रह्मयोनि।" यहाँपर भी प्रथमोक्त 'ब्रह्म च' में जिस ब्रह्मकी बात कही गयी है, वे परब्रह्म अर्थात् यहाँ रुक्मवर्ण पुरुष होते हैं परब्रह्म; और 'तद् योनिश्च' में उसी परब्रह्मको जिनकी योनि बताया गया है, वे होते हैं निर्विशेष ब्रह्म।

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्—(गीता १४।२७)

श्रीमद्भगवद्गीतामें 'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्' वाक्यमें परब्रह्म स्वयंभगवान् श्रीकृष्णको ही ब्रह्मकी प्रतिष्ठा कहा गया है। 'प्रतिष्ठा' शब्दके अर्थमें श्रीपाद शङ्कराचार्यने लिखा है—"प्रतितिष्ठति अस्मिन् इति प्रतिष्ठा"। श्रीपाद बलदेव विद्याभूषणने लिखा है—"प्रतिष्ठीयते अत्र इति निरुक्तेः परमाश्रयः"। दोनोंके अर्थका तात्पर्य एक ही है—जिसमें प्रतिष्ठित रहा जाय, वह ही प्रतिष्ठा—परम आश्रय है।

इस गीतावाक्यमें श्रीकृष्ण कहते हैं—मैं ही ब्रह्मकी प्रतिष्ठा या परम आश्रय हूँ। श्रीकृष्ण कौन हैं? श्रीकृष्ण हैं—"परं ब्रह्म परं धाम (गीता १०।१२), ॐकार (गीता ९।१७), प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् (गीता ९।१८)॥" इस प्रकार जाना गया कि प्रणवस्वरूप परब्रह्म श्रीकृष्ण हैं ब्रह्मकी प्रतिष्ठा या परम आश्रय। जिस ब्रह्मके परम आश्रय परब्रह्म श्रीकृष्ण हैं, वे ब्रह्म कौन-से हैं? उल्लिखित १४।२७ गीता-श्लोकके भाष्यमें श्रीपाद विश्वनाथ चक्रवर्तीने लिखा है—"परम प्रतिष्ठात्वेन प्रसिद्धं यद्ब्रह्म तस्यापि अहं प्रतिष्ठा प्रतिष्ठीयतेऽस्मिन्निति प्रतिष्ठा आश्रयः आम्नायादिषु श्रुतिषु सर्वत्रैव प्रतिष्ठापदस्य तथार्थत्वात्॥" इस टीकासे जाना गया—प्रसिद्ध ब्रह्मके भी श्रीकृष्ण (परब्रह्म) हैं प्रतिष्ठा या आश्रय। रूढ़िवृत्तिके अर्थसे जिस ब्रह्मको बताया है, वे ही हैं 'प्रसिद्ध ब्रह्म'; क्योंकि प्रसिद्ध अर्थ ही रूढ़िवृत्तिसे उपलब्ध होता है। परब्रह्म हैं सर्वाश्रय, उनका आश्रय कोई नहीं; वे जिस ब्रह्मके आश्रय हो सकते हैं, वे निश्चय ही ब्रह्म शब्दके रूढ़िवृत्ति-लब्ध 'निर्विशेष ब्रह्म' ही होंगे। इस प्रकार 'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहं' वाक्यसे जाना गया कि परब्रह्म श्रीकृष्ण हैं 'निर्विशेष ब्रह्मके परम आश्रय—मूल योनि। श्रीकृष्ण हैं ब्रह्मयोनि।

गीतावाक्यसे जाना गया कि परब्रह्म स्वयंभगवान् श्रीकृष्ण ही ब्रह्मयोनि हैं। वे श्यामवर्ण हैं। और मुण्डक श्रुति-वाक्यसे जाना गया कि रुक्मवर्ण (पीतवर्ण) पुरुष हैं 'ब्रह्मयोनि'। जो ब्रह्मयोनि हैं, वे हैं स्वयंभगवान् परब्रह्म। तब क्या 'ब्रह्मयोनि' अथवा स्वयंभगवान् दो जन हैं? एक श्यामवर्ण एवं एक रुक्मवर्ण या पीतवर्ण—ये दोनों ही क्या ब्रह्मयोनि या स्वयंभगवान् हैं?

स्वयंभगवान् परब्रह्म दो नहीं हो सकते; वे हैं 'एकमेवाद्वितीयम्'; अतएव श्यामवर्ण स्वयंभगवान् एवं रुक्मवर्ण स्वयंभगवान् दो भिन्न तत्त्व नहीं हो सकते; वे अभिन्न स्वरूप हैं।

वे यदि अभिन्न ही हों, तब एक स्वरूप श्यामवर्ण एवं एक स्वरूप रुक्मवर्ण क्यों हैं?

इसका उत्तर इस प्रकार है। परब्रह्म स्वयंभगवान् श्रीकृष्ण एक होकर भी अनादिकालसे अनन्तरूपसे आत्मप्रकट करके विराजित हैं।

"एकोऽपि सन् यो बहुधा विभाति ॥ श्रुति ॥"

ये सब अनन्तरूप हैं—वासुदेव, नारायण, राम, नृसिंह, सदाशिव आदि भगवत्स्वरूप एवं निर्विशेष ब्रह्म। इन सब स्वरूपोंमें श्रीकृष्णकी अपेक्षा न्यून शक्तिका विकास होनेके कारण इन सबको उनका अंश कहा जाता है। इनमें-से कोई भी ब्रह्मयोनि नहीं है, किन्तु गीतावाक्यसे जाना जाता है कि श्यामवर्ण श्रीकृष्ण ब्रह्मयोनि हैं एवं मुण्डक श्रुतिसे जाना जाता है कि रुक्मवर्ण (पीतवर्ण) पुरुष भी ब्रह्मयोनि हैं। दोनों ही ब्रह्मयोनि होनेके कारण रुक्मवर्ण पुरुष श्यामवर्ण कृष्णके अंश नहीं हो

सकते ; वे श्रीकृष्णके समान प्रकाश हैं। इस प्रकार इस श्रुति-वाक्यसे जाना गया कि परब्रह्म स्वयंभगवान्‌के अनन्त प्रकाशके मध्य रुक्मवर्ण पुरुष भी एक प्रकाश हैं एवं ये रुक्मवर्ण पुरुष, वासुदेव-नारायण आदिकी तरह अंशस्वरूप नहीं हैं, पूर्णस्वरूप हैं। पूर्णस्वरूपमें भी स्वयंभगवान् परब्रह्मके दो प्रकाश हैं—एक प्रकाश श्यामवर्ण एवं एक प्रकाश रुक्मवर्ण।

'ब्रह्मयोनि' को एक शब्द मानकर पूर्वोक्त अर्थ किया गया है ; 'ब्रह्मयोनिम्' दो शब्द भी हो सकते हैं—ब्रह्म एवं योनिम्, दोनों पदोंमें ही द्वितीया विभक्ति है। रुक्मवर्ण पुरुष हैं ब्रह्म (परब्रह्म) एवं योनि (सर्वयोनि, सबके मूल)। इसमें भी रुक्मवर्ण पुरुषकी स्वयंभगवत्ता जानी जाती है ; एवं श्रीकृष्ण भी जब परब्रह्म है एवं सर्वयोनि हैं, तब यह भी जाना जाता है कि परब्रह्म स्वयंभगवान्‌का रुक्मवर्ण एक स्वयं-भगवत्स्वरूप भी है।

इस आलोचनासे जाना गया कि ब्रह्मयोनि नामसे श्रुतिकथित रुक्मवर्ण पुरुष होते हैं स्वयंभगवान्। इस प्रकार मुण्डक श्रुतिसे जाना गया कि रुक्मवर्ण (या पीतवर्ण) एक स्वयंभगवत्स्वरूप भी है।

कर्तारम्—वे रुक्मवर्ण पुरुष हैं कर्ता, स्वयंभगवान् होनेके कारण सर्वकर्ता।

ईशम्—वे रुक्मवर्ण पुरुष हैं ईश्वर, स्वयंभगवान् होनेके कारण परमेश्वर।

ये रुक्मवर्ण-स्वरूप निर्विशेष नहीं है, 'कर्तारम्' एवं ईशम्—इन दो विशेषणोंसे ही यह जाना गया। निर्विशेष स्वरूपमें कर्तृत्व एवं ईशत्व नहीं रह सकता।

पुरुषम्— पुरुष शब्दसे रुक्मवर्ण स्वरूपका विग्रहत्व ही सूचित होता है। वे चक्षु-दर्शनके योग्य हैं।

रुक्मवर्ण पुरुषके दर्शनका फल—"यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्—जब कोई भी द्रष्टा सर्वकर्ता, सर्वेश्वर एवं ब्रह्मयोनि (स्वयंभगवान्) रुक्मवर्ण पुरुषका दर्शन करता है"—यही श्रुतिवाक्यके प्रथमार्धमें कहा गया है। इस दर्शनका फल क्या होता है, यह शेषार्धमें कहा गया है—"तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति ॥"

श्रुतिवाक्यके द्वितीयार्धके शब्दादिका तात्पर्य—अब श्रुतिके द्वितीयार्धका तात्पर्य विवेचित होता है।

तदा—दर्शनकालमें, दर्शन मात्रसे।

पुण्यपापे विधूय—पुण्य एवं पापको विधौत करके। 'विधूय' होती है असमापिका क्रिया—विधौत करके।

इस श्रुतिभाष्यमें श्रीपाद शङ्कराचार्यने लिखा है—"पुण्यपापे बन्धनभूते कर्मणी समूले विधूय निरस्य दग्ध्वा—पुण्य-पाप होते हैं बन्धनभूत कर्म; उन कर्मोंको समूल दग्ध करके"—यही होता है 'पुण्यपापे विधूय' वाक्यका तात्पर्य। पाप जिस प्रकार कर्म है, पुण्य भी उसी प्रकार कर्म हैं; दोनों ही मायाके कार्य हैं, अतः दोनों ही बन्धन करनेवाले हैं। अविद्या या मायाके कर्मको भी अविद्या या माया कहा जाता है।

"विष्णुशक्तिः परा प्रोक्ता क्षेत्रज्ञाख्या तथापरा।
अविद्या कर्मसंज्ञान्या तृतीया शक्तिरिष्यते ॥

वि पु ६।७।६१

—विष्णुकी तीन शक्तियाँ हैं, पराशक्ति (चिच्छक्ति), क्षेत्रज्ञा शक्ति (जीवशक्ति) एवं तीसरी शक्ति है अविद्या (मायाशक्ति),

जिसका दूसरा-नाम है कर्म।" रुक्मवर्ण पुरुषके दर्शन मात्रसे द्रष्टाके बन्धन-जनक पाप-पुण्यादि समस्त कर्म (माया या अविद्या) समूल नष्ट हो जाते हैं।

निरञ्जनः— अञ्जन-शून्य। अञ्जन शब्दका अर्थ है रंग, वर्ण, दाग। रुक्मवर्ण पुरुषके दर्शनके फल स्वरूप द्रष्टाके बन्धन-जनक कर्म या माया समूल इस प्रकार नष्ट हो जाते हैं कि जिससे मायाका किसी भी प्रकारका दाग या चिह्न भी नहीं रहता। बन्धन-जनक कर्मोंका मूल है माया। श्रीपाद शङ्कराचार्यने जो कहा है—'समूले विधूय', उसका तात्पर्य है—बन्धन-जनक कर्मोंका मूल जो माया है, वह माया भी विधौत (नष्ट) हो जाती है; इसीसे द्रष्टा निरञ्जन होता है।

विद्वान्—'विधूय' इस असमापिका क्रियाका तात्पर्य इस प्रकार होता है कि रुक्मवर्ण पुरुषके दर्शनके फलसे द्रष्टाके बन्धनजनक सब कर्म समूल विनष्ट हो जाते हैं, वह निरञ्जन हो जाता है उसके पश्चात् वह विद्वान् होता है।

विद्वान्—विद्+क्वसु, घे। आत्मवित् (शब्द कल्पद्रुम)। ३।४।१ ब्रह्मसूत्रके गोविन्द भाष्यमें 'विद्वान्' शब्दका अर्थ लिखा है—ब्रह्मानुभवी। यह भी शब्दकल्पद्रुमका 'आत्मवित्' ही है।

विद् धातुका अर्थ है ज्ञान, जानना। जान लिया है जिसने, वह ही है विद्वान्। जिनको जान लेनेपर अ-जाना कुछ नहीं रहता, सभी जानना हो जाता है, उनको जिसने जान लिया है, उसको ही वास्तविक विद्वान् कहा जाता है। अक्षर परब्रह्मको जान लेनेपर सब जानना हो जाता है, एक विज्ञानमें सर्व विज्ञान हैं। उस ब्रह्मको जाननेका एकमात्र उपाय है पराविद्या।

"परा यया अक्षरमधिगम्यते ।। मुण्डक १।१।५"

इस श्रुतिवाक्यके भाष्यमें श्रीपाद शङ्कराचार्यने 'अधिगम्यते' शब्दके अर्थमें लिखा है—"अधिगम्यते प्राप्यते । अधि पूर्वस्य गमे: प्रायश: प्राप्त्यर्थत्वात् ।—अधि पूर्वक गम् धातुका अर्थ प्रायश: प्राप्ति होता है ; इसलिए 'अधिगम्यते' शब्दका अर्थ है प्राप्यते ।" पराविद्या द्वारा परब्रह्मको पाया जाता है । प्राप्ति हुए बिना सम्यक् ज्ञान नहीं होता । बरफ जब तक हाथमें न आवे, तब तक सम्यक् रूपसे जाना नहीं जाता कि बरफ कितना एवं किस प्रकार शीतल होता है। परब्रह्मकी प्राप्तिसे ही परब्रह्मको सम्यक् रूपसे जाना ज़ाता है । अतएव परब्रह्मको सम्यक् रूपसे जाननेका—प्राप्तिके पश्चात् जाननेका—उपाय हुई पराविद्या। यह पराविद्या ही है भक्ति । गीतामें भी श्रीकृष्णने कहा है—

"भक्त्यामामभिजानाति ।।" (गीता १८।५५)

भक्ति द्वारा ही परब्रह्मको सम्यक् रूपसे जाना जाता है। परब्रह्म स्वयंभगवान् 'एको वशी' होते हुए भक्तिके वशीभूत हैं।

"भक्तिवश: पुरुष: । भक्तिरेव भूयसी ।।" (माठर श्रुति ।।)

यह भक्ति ही होती है प्रेमभक्ति या प्रेम ।

पहले कहा जा चुका है कि जिन्होंने परब्रह्मको सम्यक् रूपसे जान लिया है, उन्हींको वास्तविक विद्वान् कहा जाता है । परब्रह्मको सम्यक् रूपसे जान लेना जब पराविद्या या प्रेमभक्ति है, तब स्पष्ट ही समझा जाता है कि विद्वान् शब्दका अर्थ है प्रेमवान् ।

तब मुण्डकश्रुतिके पूर्वोद्धृत "तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः=(द्रष्टा) पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः [सन्] विद्वान्

[भवति]" वाक्यसे जाना गया कि रुक्मवर्ण पुरुषके दर्शन मात्रसे द्रष्टाके बन्धनजनक सब कर्म नष्ट हो जाते हैं, वह निरञ्जन हो जाता है ; तत्पश्चात् वह विद्वान् या प्रेमवान् हो जाता है।

रुक्मवर्ण पुरुषके दर्शनमात्रसे प्रेम प्राप्त होता है, यह जाना गया। और क्या होता है ?

परमं साम्यमुपैति—द्रष्टा परम-साम्य प्राप्त करता है। किसके साथ परम-साम्य प्राप्त करता है ? निश्चय ही रुक्मवर्ण पुरुषके साथ।

तब क्या द्रष्टा भी एक रुक्मवर्ण पुरुष हो जाता है ? नहीं, ऐसा नहीं होता। श्रुतिवाक्यसे जाना जाता है कि जो द्रष्टा है, उसके पाप-पुण्य-रूप कर्म थे ; अतएव वह जीव है—संसारी जीव। स्वयंभगवान्की बात तो दूर रही, किसी भी भगवत्स्वरूपके समान होना भी जीवके लिए सम्भव नहीं। साधारण जीवकी बात तो दूर रही, ब्रह्मा-रुद्रादि दवतागणको भी यदि नारायणके समान मान लिया जाय, तो पाखण्ड सञ्चारित होता है।

"यस्तु नारायणं देवं ब्रह्मरुद्रादि दैवतैः।
समत्वेनैव मन्यते स पाषण्डी भवेद् ध्रुवम् ॥

पद्मपुराण"

अतएव रुक्मवर्ण पुरुषके द्रष्टा स्वयं रुक्मवर्ण पुरुष होकर उससे परमसाम्य प्राप्त नहीं कर सकते।

तब 'परमं साम्यमुपैति' वाक्यकी सार्थकता क्या है ? सार्थकता यह है—"प्रभावमें द्रष्टा रुक्मवर्ण पुरुषके साथ परमसाम्य प्राप्त करता है। भगवान्के गुण या प्रभाव भगवद्भक्तमें संचारित हो सकते हैं, यह बात शास्त्र कहते हैं। रुक्मवर्ण

पुरुषका जिस प्रभावसे, उनके दर्शन मात्रसे लोग बन्धनजनक कर्मोंसे सम्यक् रूपसे छुटकारा प्राप्त करते हैं, प्रेम प्राप्त करते हैं, उस प्रभावके साथ वे परम साम्य प्राप्त करते हैं, अर्थात् उनके भी दर्शनसे अन्य लोग इसी प्रकारका प्रेम प्राप्त कर सकते हैं। यही है 'परमं साम्यमुपैति' वाक्यका तात्पर्य।

ख। मैत्रायणी श्रुति-वाक्य— अब मैत्रायणी श्रुति-वाक्य आलोचित होता हैं। वाक्य इस प्रकार है—

यदा पश्यन् पश्यति रुक्मवर्णं
कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्।
तदा विद्वान् पुण्यपापे विहाय
परेऽव्यये सर्वमेकीकरोत्येवं ह्याह॥

मैत्रायणी ५।१८॥

मुण्डक-श्रुति एवं मैत्रायणी-श्रुतिके वाक्योंका पार्थक्य प्रदर्शित किया जा रहा है। मुण्डकके 'पश्यः' की जगह मैत्रायणीमें है 'पश्यन्'; अर्थ दोनोंका एक ही है। मुण्डकके 'विधूत निरञ्जनः' की जगह मैत्रायणीमें है 'विहाय—परित्याग करके'; तात्पर्य एक ही है। मुण्डकके 'परम साम्यमुपैति' की जगह मैत्रायणीमें है 'परेऽव्यये सर्वमेकीकरोत्येवं ह्याह'; इस वाक्यकी आलोचना पीछे की जायगी। मुण्डकके—

यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं
कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्॥
तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय
निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति॥

मुण्डक ३।१।३

और मैत्रायणीके—

यदा पश्यन् पश्यति रुक्मवर्णं
कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम् ।
तदा विद्वान् पुण्यपापे विहाय

—इन दोनों अंशोंके तात्पर्यमें कोई भी अन्तर नहीं है। मुण्डकश्रुति-वाक्यकी आलोचना प्रसंगमें वह तात्पर्य प्रदर्शित हो चुका है।

अब मैत्रायणी श्रुतिवाक्यका शेषांश आलोचित होता है।

'**परेऽव्यये सर्वमेकीकरोत्येवं ह्याह** ।' इस वाक्यांशका अर्थ है—"इस प्रकार (एवं) अव्यय परब्रह्म सबको एकी (एक समान) करते हैं—यह कहा गया।" रुक्मवर्ण स्वयंभगवान्‌के दर्शन मात्रसे जो पुण्य-पापरूप कर्मफल परित्याग कर 'विद्वान्—प्रेमवान्' होते हैं, वे अव्यय परब्रह्ममें सबको एकीकरण करते हैं।" श्रुति-स्मृति-ब्रह्मसूत्रके अनुसार जीव कभी भी परब्रह्म नहीं हो सकता, मुक्त अवस्थामें भी जब जीवका पृथक् अस्तित्व रहता है (ब्रह्मसूत्रके सबसे अन्तिम पदमें व्यासदेवने यही दिखाया है), तब 'सर्वमेकीकरोति' वाक्यमें सबको परब्रह्मत्व प्राप्ति नहीं समझी जा सकती; विशेष करके रुक्मवर्ण स्वयंभगवान्‌के दर्शनकर्ताके लिए यह सम्भव नहीं है। 'एकीकरोति' क्रियाके कर्ता है 'पश्यन्—दर्शनकर्ता'। अभूततद्भावे च्वी प्रत्यय; पहले एक नहीं थे, उनको एक किया जाता है। 'एवं' शब्दका अर्थ 'इस प्रकार'। रुक्मवर्ण पुरुषके दर्शनके फलसे दर्शनकर्ता सब कर्मफलसे विमुक्ति प्राप्त कर प्रेम प्राप्त करता है। प्रेम-प्राप्तिके फलसे वह जान लेता है कि परब्रह्म ही जीवका एकमात्र प्रिय है। प्रियत्व वस्तु स्वरूपतः ही पारस्परिक है, इसलिए वह यह भी जान लेता है कि जीव भी परब्रह्मका प्रिय है और सभी जीव

परब्रह्मके प्रियरूपसे एक हैं। तब वह 'परेऽव्यये– परे अव्यये— अव्यय परब्रह्मके विषयमें', 'सर्वमेकीकरोति– सबका एकीकरण करता है—परब्रह्मके प्रियरूपसे सभी जीव एक हैं, इसका अनुभव करता है'; 'एवं' शब्दका अर्थ है—इस भावसे, अर्थात् प्रेम प्राप्त करके वह यह अनुभव करता है।

अथवा—उन्होंने जिस प्रकार रुक्मवर्ण पुरुषके दर्शन-मात्रसे प्रेम प्राप्त किया है, 'एवं—इसी प्रकार उनके अपने दर्शनसे भी, अपने दर्शनदान करने-से भी' वे 'परे अव्यये—अव्यय परब्रह्मके विषयमें' 'सर्वमेकीकरोति—सबको (अपने सहित) एक करते हैं'; उन्होंने स्वयं जिस प्रकार अव्यय परब्रह्ममें प्रेम प्राप्त किया है, उनके अपने दर्शनसे अन्य सब लोग भी परब्रह्मसे प्रेम प्राप्त करके उन्हींके समान हो जाते हैं; अर्थात् जो लोग इस प्रकारका प्रेम प्राप्त करते हैं, उनके अपने दर्शनसे भी अन्यान्य लोग प्रेम प्राप्त करते रहते हैं।

इस प्रकार देखा गया कि मुण्डक श्रुतिके एवं मैत्रायणी श्रुतिके दोनों वाक्योंका तात्पर्य एक ही है।

रुक्मवर्ण स्वयंभगवान्‌की महिमा और असाधारण वैशिष्ठ्य*

रुक्मवर्ण या पीतवर्ण शब्दसे गौरवर्ण ही सूचित होता है; रुक्म शब्दका अर्थ है स्वर्ण। स्वर्णका वर्ण होता है पीत। स्वर्ण-वर्ण, पीतवर्ण, गौरवर्ण—एकार्थक हैं। पहिले उद्धृत मुण्डक-श्रुति-वाक्यमें पीतवर्ण या गौरवर्ण स्वयंभगवान्‌की महिमाकी बात एवं किसी-किसी महिमाके असाधारण वैशिष्ठ्यकी बात भी कही गयी है। क्रमशः वे सब यहाँ प्रदर्शित की जा रही हैं।

* महाप्रभु श्रीगौराङ्गके दूसरे अध्यायका ९वाँ अनुच्छेद.

क । दर्शनमात्रसे असुरत्व-विनाश—श्रुतिवाक्यमें कहा गया है कि रुक्मवर्ण स्वयंभगवान्‌के दर्शनके फलसे—दर्शनमात्रसे द्रष्टाके पाप-पुण्यरूप सब बन्धनजनक कर्म समूल विनष्ट हो जाते हैं। असुरत्व तीव्र पापोंका ही फल है। दर्शन मात्रसे वह भी समूल विनष्ट हो जाता है। इस प्रकार देखा गया कि रुक्मवर्ण स्वयंभगवान्‌के दर्शनके फलसे—दर्शनमात्रसे द्रष्टाका असुरत्व पर्यन्त विनष्ट हो जाता है ; अतएव दर्शनमात्रसे असुरत्व-विनाश भी रुक्मवर्ण स्वयंभगवान्‌की एक महिमा है।

किन्तु श्यामवर्ण स्वयंभगवत्स्वरूप श्रीकृष्णके दर्शनमात्रसे बन्धन-जनक सब कर्म या कर्मफल—अतएव असुरत्व—विनष्ट नहीं होता ; क्योंकि शास्त्रसे जाना जाता है कि उन्होंने कंस आदि असुरोंकी हत्या की थी। हत्या तक कंसादि असुरोंका असुरत्व बना रहा ; नहीं तो हत्या करनेकी आवश्यकता न होती। हत्याके पश्चात् ही कंसादि असुरोंका असुरत्व विनष्ट हुआ है, तब उनको मुक्ति मिली है।

अतएव श्यामवर्ण स्वयंभगवत्स्वरूप श्रीकृष्णके दर्शन मात्रसे असुरत्व विनष्ट नहीं होता ; किन्तु रुक्मवर्ण स्वयं-भगवत्स्वरूपके दर्शन मात्रसे ऐसा होता है। यह है रुक्मवर्ण-स्वरूपका **एक असाधारण वैशिष्ठ्य**।

ख । असुरत्व-विनाश, असुरका प्राणविनाश नहीं है—रुक्मवर्ण-स्वयंभगवत्-स्वरूपके दर्शन मात्रसे असुरत्व समूल विनष्ट हो जाता है ; किन्तु असुर प्राणोंसे नहीं मरता। असुरत्व विनाशके पश्चात् असुर विद्यमान रहता है एवं परम साम्य प्राप्त करता है। यह भी श्यामवर्ण स्वयंभगवत्-स्वरूप श्रीकृष्णकी अपेक्षा रुक्मवर्ण स्वरूपका **एक असाधारण वैशिष्ठ्य**

है; क्योंकि श्रीकृष्ण असुरका प्राण-विनाश करते हैं। प्राण-विनाश करके भी वे असुरको सायुज्य मुक्ति मात्र देते हैं, प्रेम नहीं देते। किन्तु रुक्मवर्ण स्वरूप असुरका प्राण विनाश न कर उसका असुरत्व विनाश करते हैं एवं उसको प्रेमदान करते हैं।

ग। दर्शनमात्रसे ही प्रेमदातृत्व—रुक्मवर्ण-स्वयंभगवत्-स्वरूपके दर्शन मात्रसे द्रष्टा प्रेम प्राप्त करता है; किन्तु श्यामवर्ण स्वयंभगवत्-स्वरूपके दर्शन मात्रसे प्रेम प्राप्त नहीं होता; उनके दर्शन मात्रसे बन्धनजनक कर्म भी समूल विनष्ट नहीं होते, यह पहले ही (क अनुच्छेदमें पृष्ठ ८४ पर) बता दिया गया है; अतएव दर्शन मात्रसे प्रेम प्राप्त होना भी रुक्मवर्ण-स्वरूपकी महिमाका **एक असाधारण वैशिष्ट्य** है।

घ। परम-साम्यत्व दान—श्यामवर्ण स्वयंभगवान् श्रीकृष्ण जिनको प्रेमदान करते हैं, उनके दर्शनसे दूसरे प्रेम प्राप्त करते हों, इसका कोई प्रमाण शास्त्रमें देखनेमें नहीं आता। किन्तु रुक्मवर्ण स्वरूपके दर्शन मात्रसे जिन्होंने प्रेम प्राप्त किया है, उनके दर्शनसे दूसरे भी प्रेम प्राप्त करते रहे हैं। यह भी रुक्मवर्ण स्वयंभगवान्का **एक असाधारण वैशिष्ट्य** है।

ङ। ब्रह्माण्डमें अवतरण—श्रुतिवाक्यमें कहा गया है कि रुक्मवर्ण पुरुषके दर्शनसे द्रष्टाके पाप-पुण्य-रूप बन्धनजनक कर्म समूल विनष्ट हो जाते हैं। इससे जाना जाता है कि बन्धन-जनक कर्म जिनके हैं, वे भी उनके दर्शन पाते हैं। किन्तु जितने दिनों तक बन्धनजनक कर्म रहते हैं, उतने दिनों तक कोई व्यक्ति मायातीत भगवद्धाममें नहीं जा सकता। बन्धनजनक कर्म-विशिष्ट लोगोंका स्थान मायिक ब्रह्माण्ड है। अतएव श्रुतिवाक्यसे जाना जाता है कि मायिक ब्रह्माण्डमें बन्धन-जनक-कर्मफल-

विशिष्ठ लोग रुक्मवर्ण पुरुषके दर्शन पाते हैं। वे ब्रह्माण्डमें अवतीर्ण हों, तभी यह सम्भव हो सकता है।

इस प्रकार श्रुतिवाक्यसे जाना गया कि रुक्मवर्ण स्वयंभगवान् कभी-कभी मायिक ब्रह्माण्डमें अवतीर्ण होते रहते हैं।

च। ब्रह्माण्डमें अवतरणका उद्देश्य---श्रुतिवाक्यसे जाना गया कि रुक्मवर्ण स्वयंभगवान् ब्रह्माण्डमें अवतीर्ण होते हैं एवं दर्शनदान द्वारा ब्रह्माण्डवासी बन्धनजनक-कर्मफल-विशिष्ठ लोगोंके बन्धनजनक कर्म समूल विनष्ट करके उनको प्रेमदान करते हैं एवं प्रेमदानके द्वारा उन्हें अपना परम साम्य दान करते हैं। प्रेमदानके द्वारा परम-साम्य-दानका उद्देश्य यह होता है कि उनके दर्शनसे जो प्रेम प्राप्त करें, उन प्रेम प्राप्त करनेवालोंके दर्शनसे दूसरे लोग प्रेम प्राप्त कर सकें। इससे समझा जाता है कि जगद्वासी लोगोंको प्रेमदान करनेके लिए रुक्मवर्ण पुरुषका प्रबल आग्रह है ; एवं यह भी समझा जाता है कि **मायाबद्ध जीवको प्रेमदान करनेके लिए ही वे जगत्में अवतीर्ण होते हैं।**

छ। निर्विचार प्रेम-दातृत्व——एकमात्र स्वयंभगवान् ही प्रेमदानमें समर्थ हैं ; अन्य कोई भी भगवत्स्वरूप प्रेम नहीं दे सकते।

सन्त्ववतारा बहवः पुष्करनाभस्य सर्वतोभद्राः।
कृष्णादन्यः कोहवा लताष्वपि प्रेमदो भवति॥

लघुभागवतामृत १।३०३ धृत प्रमाण

—पद्मनाभ भगवान्के अनेक अवतार हैं उनमें-से प्रत्येक मङ्गलदाता हो सकते हैं ; किन्तु कृष्णके अतिरिक्त और कोई भगवत्-स्वरूप नहीं है जो लता पर्यन्तको प्रेम दे सके ? अर्थात्

श्रीकृष्ण केवल मनुष्योंको ही नहीं, लता आदि स्थावर जीवों तकको प्रेम दे सकते हैं।

श्यामवण श्रीकृष्ण एवं रुक्मवर्ण पुरुष, दोनों ही स्वयंभगवत्स्वरूप होनेके कारण प्रेमदाता हैं; किन्तु दोनोंका प्रेमदातृत्वका स्वरूप एक जैसा नहीं है।

श्रीकृष्ण द्वारा प्रेमदानकी रीति—जितने दिनों तक जीवमें बन्धन-जनक कर्म या कर्मफल रहते हैं, उतने दिनों तक प्रेम प्राप्त नहीं हो सकता; क्योंकि बन्धनजनक कर्म होते हैं माया या अविद्या। ये कर्म या माया जीवकी चित्तवृत्तिको बाहरकी तरफ, अर्थात् इन्द्रियभोग्य वस्तुकी तरफ चालित करते हैं, बहिरंगा माया कभी भी चित्तवृत्तिको भगवान्‌की तरफ चालित नहीं करती। प्रेम है कृष्णाभिमुखिनी चित्तवृत्ति। जबतक चित्त मायाका ग्रास रहता है प्रेम उत्पन्न नहीं हो सकता। चित्तको मायाके या बन्धनजनक कर्मके प्रभावसे मुक्त करनेके लिए साधन-भजनकी आवश्यकता है। अतएव प्रेम प्राप्त करनेके लिए साधन-भजनकी आवश्यकता है—यही साधारण नियम है।

और साधन-भजन करनेपर भी जब तक चित्तमें भुक्ति-मुक्ति वासना रहती है, तब तक प्रेम या भक्ति नहीं प्राप्त होती।

भुक्तिमुक्ति-स्पृहा यावत् पिशाची हृदि वर्तते।
तावत् भक्तिसुखस्यात्र कथमभ्युदयो भवेत॥

भ. र. सि. १।२।२२

प्रेमदानके पूर्व श्रीकृष्ण इन बातोंका विचार करते हैं।

कृष्ण यदि छुटे भक्ते भुक्ति-मुक्ति दिया।
कभु प्रेम-भक्ति ना देन, राखेन लुकाइया॥

चै. च. आ. ८।१६

जो साधक भुक्ति या मुक्ति पाकर ही तृप्त हो जाता है, श्रीकृष्णसे और कुछ नहीं चाहता, श्रीकृष्ण उसे प्रेम नहीं देते। इस प्रकार देखा जाता है कि श्रीकृष्ण बिना विचारे प्रेम नहीं देते।

रुक्मवर्ण पुरुष कर्तृक प्रेमदानकी रीति—मुण्डक-मैत्रायणी-श्रुति-वाक्यसे जाना जाता है कि रुक्मवर्ण पुरुषके दर्शन मात्रसे द्रष्टाके बन्धन-जनक पुण्य-पापरूप कर्म समूह समूल विनष्ट हो जाते हैं। कर्म-दूरीकरणके लिए साधन-भजनकी आवश्यकता नहीं रहती।

और भी जाना जाता है कि रुक्मवर्ण पुरुषके दर्शन मात्रसे बन्धनजनक कर्मादि समूल विनष्ट होनेके साथ-साथ भुक्ति-मुक्ति वासना भी दूर हो जाती है और उसी क्षण प्रेम प्राप्त हो जाता है।

इस प्रकार देखा जाता है कि रुक्मवर्ण पुरुष बिना विचारे प्रेमदान करते हैं; साधन-भजनका भी विचार नहीं करते, भुक्ति-मुक्ति वासना है या नहीं – इसका भी विचार नहीं करते। उनके दर्शन मात्रसे ही जब साधन-भजनका फल उदित हो जाता है एवं भुक्ति-मुक्ति-वासना भी दूर हो जाती है, तब इन सब विषयोंके विचार करनेकी कोई आवश्यकता ही नहीं रहती।

इस विषयमें भी रुक्मवर्ण पुरुषका **एक असाधारण वैशिष्ट्य** है।

ज। साङ्गोपाङ्गास्त्रपार्षदत्व---भगवान् जब ब्रह्माण्डमें अवतीर्ण होते हैं, तब जगतके कल्याणके लिए असुर-संहार भी करते हैं। असुर-संहारके लिए अस्त्र आदिकी आवश्यकता होती है। नर-लील भगवान् जब अवतीर्ण होते हैं, तब वे किसी

भी प्रकारके अस्त्रों सहित अवतीर्ण नहीं होते ; तथापि असुर-संहारके समय अस्त्रका व्यवहार करते हैं । श्रीरामचन्द्रने धनुष-बाणका उपयोग किया था । कंस-वधके समय कंसके एक हाथोको मारकर उसके दन्त द्वारा श्रीकृष्णने कंसका वध किया था । हाथीका दाँत ही श्रीकृष्णका अस्त्र था ।

रुक्मवर्ण पुरुष असुरका संहार न करके असुरत्वका संहार करते हैं ; असुरत्वके विनाशके लिए वे किसी भी अस्त्रका प्रयोग नहीं करते ; उनके दर्शनसे हो असुरत्व समूल विनष्ट हो जाता है । उनके दर्शनसे उनके अङ्ग-प्रत्यङ्गका दर्शन समझना चाहिये । इस प्रकार देखा गया कि असुरत्व विनाशके लिए रुक्मवर्ण पुरुषके अङ्ग-प्रत्यङ्ग उनके अस्त्रका कार्य करते रहते हैं ; उनके अङ्ग-प्रत्यङ्ग ही उनके अस्त्र-तुल्य हैं ।

और स्वयंभगवान् अपने पार्षदवर्गके सहित ही अवतीर्ण हुआ करते हैं । जगत्संबन्धी जिस कार्यके लिए वे अवतीर्ण होते हैं, उनके पार्षद भी उस कार्यमें उनकी सहायता करते हैं । पहले ही बताया जा चुका है कि रुक्मवर्ण पुरुष ब्रह्माण्डमें अवतीर्ण होते हैं प्रेमदानके लिए (च. अनुच्छेद पृष्ठ ८६ देखिये) एवं बिना विचारे प्रेमदानके लिए (छ. अनुच्छेद पृष्ठ ८६ देखिये) । अतएव जगत्के जीवको निर्विचार प्रेमदान कार्यमें भी पार्षदगण उनका आनुकूल्य अवश्य ही करेंगे ; जो वस्तु उनके इस प्रेमदानके कार्यमें उनका आनुकूल्य करेगी, उसीको उनका पार्षद स्थानीय माना जाता है । उनके अर्थात् अङ्ग-प्रत्यङ्गके दर्शनसे ही जब कोई भी व्यक्ति प्रेम प्राप्त करता है, तब समझना चाहिये कि उनके अङ्ग-प्रत्यङ्ग उनके पार्षदका कार्य करते हैं ; उनके पार्षद भी रह सकते हैं एवं पार्षदगण भी प्रेमदानका आनुकूल्य कर सकते हैं ; किन्तु उनके अङ्ग-

प्रत्यङ्ग भी जब प्रेमदानका आनुकूल्य करते हैं, तब अङ्ग-प्रत्यङ्गको उनके पार्षद-स्थानीय माना जाता है।

इस प्रकार देखा गया कि रुक्मवर्ण पुरुषके अङ्ग-प्रत्यङ्ग उनके अस्त्र और पार्षदका कार्य करते हैं। उनके अङ्ग-प्रत्यङ्ग सर्वदा ही उनमें वर्तमान रहते हैं, इसलिए कहा जाता है कि रुक्मवर्ण पुरुष हैं—**साङ्गोपाङ्गास्त्रपार्षद**।

उपसंहार *

इस अध्यायमें पहले श्रीमद्भागवतके एवं पीछे महाभारतके प्रमाण उद्धृत करके प्रदर्शित हुआ है कि पीतवर्ण एक स्वयंभगवत्-स्वरूपका उल्लेख शास्त्रमें देखनेमें आता है।

इसके पश्चात् मुण्डक-श्रुति एवं मैत्रायणी-श्रुतिके वाक्य उद्धृत करके प्रदर्शित हुआ कि श्रुतिमें भी एक पीतवर्ण स्वयंभगवान्‌की बात कही गयी है।

श्रुति-कथित रुक्मवर्ण स्वयंभगवान् ही महाभारत-कथित हेमाङ्ग भगवत्-स्वरूप हैं, यह श्रीपाद शङ्कराचार्यकी उक्तिसे भी जाना जाता है। उन्होंने महाभारतके विष्णुसहस्रनाम स्तोत्रका भाष्य लिखा है। 'सुवर्णवर्णो हेमाङ्गः' (विष्णुसहस्रनाम श्लोक संख्या ९२) श्लोकके अन्तर्गत 'हेमाङ्गः' शब्दके प्रसंगमें श्रीपाद शङ्कराचार्यने मुण्डक-श्रुतिके ३।१।१३ में 'यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णम्' इत्यादि वाक्य उद्धृत किये हैं। इससे जाना जाता है कि महाभारतोक्त 'हेमाङ्ग' स्वरूप ही मुण्डक प्रोक्त 'रुक्मवर्ण' पुरुष हैं—यह श्रीपाद शङ्कराचार्यका भी अभिप्राय है।

---

* महाप्रभु श्रीगौराङ्गके दूसरे अध्यायका १०वाँ अनुच्छेद.

श्रुतिवाक्यसे जाना जाता है कि रुक्मवर्ण पुरुष ब्रह्माण्डमें अवतीर्ण होते हैं। श्रीमद्भागवतके 'आसन्नवर्णाः' श्लोकसे जाना जाता है कि पीतवर्ण स्वयंभगवान् (श्रुतिकथित रुक्मवर्ण स्वयंभगवान्) वर्तमान चतुर्युगके पूर्ववर्ती किसी कलियुगमें अवतीर्ण हुए थे।

ब्रजलीलाकी अपूर्ण तीन वासनाएँ पूर्ण करनेके उद्देश्यसे ब्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णने पीतवर्ण स्वयंभगवत्-स्वरूप-रूपसे अवतीर्ण होनेका संकल्प किया था। इस परिच्छेदमें श्रुति-स्मृतिके प्रमाणों द्वारा प्रदर्शित हुआ है—एक पीतवर्ण स्वयंभगवत्-स्वरूप शास्त्र-प्रसिद्ध है। इससे समझा जाता है कि अपनी अपूर्ण तीन वासनाओंको पूर्ण करनेके लिए ब्रजेन्द्र-नन्दन श्रीकृष्णने श्रुतिप्रोक्त रुक्मवर्ण (पीतवर्ण या गौरवर्ण) स्वयंभगवत्-स्वरूपमें अवतीर्ण होनेका संकल्प किया।

'कृष्णवर्णं त्विषाकृष्णम्' श्लोककी आलोचना*

वर्तमान कलियुगके उपास्य-स्वरूप एवं उनकी उपासना-विधिके सम्बन्धमें गत त्रेतायुगमें ही ऋषि करभाजनने निमि महाराजसे कहा था—

"कृष्णवर्णं त्विषाकृष्णं साङ्गोपाङ्गास्त्रपार्षदम् ।
यज्ञैः सङ्कीर्तनप्रायैर्यजन्ति हि सुमेधसः ॥
भा. ११।५।३२

—जो सुमेधा (श्रेष्ठ बुद्धिसम्पन्न पुरुष) हैं, वे संकीर्तन-प्रधान उपचारोंके द्वारा कृष्णवर्ण त्विषाकृष्ण साङ्गोपाङ्गास्त्रपार्षदोंका यजन करते हैं।"

इस श्लोकके प्रथमार्धमें वर्तमान कलिके उपास्य-स्वरूपकी बात एवं द्वितीयार्धमें उपासना-विधिकी बात कही गयी है।**

"कृष्णवर्णं त्विषाकृष्णं साङ्गोपाङ्गास्त्र पार्षदम्"—यह है उपास्य-स्वरूपका परिचय। 'यजन्ति' क्रियाका कर्म होनेके कारण 'कृष्णवर्णं त्विषाकृष्णं साङ्गोपाङ्गास्त्रपार्षदम्'—ये तीन शब्द है द्वितीया-विभक्तियुक्त । प्रथमामें होगा—कृष्णवर्णः, त्विषाकृष्णः एवं साङ्गोपाङ्गास्त्रपार्षदः । वर्तमान कलिके उपास्य हैं—कृष्णवर्ण, त्विषाकृष्ण एवं साङ्गोपाङ्गास्त्रपार्षद । इन

---

* महाप्रभु श्रीगौराङ्गके तीसरे अध्यायका ५वाँ अनुच्छेद.

** नानातन्त्रविधानेन कलावपि यथा शृणु ॥ भा. ११।५।३१

शब्दोंकी विस्तृत भावसे आलोचना किये बिना, उपास्य-स्वरूप किस प्रकारके हैं, यह समझमें नहीं आयगा।

विवेच्य

किन्तु इन शब्दोंकी आलोचनाके लिए कई विशेष बातें प्रणिधान योग्य हैं। वे इस प्रकार हैं—

प्रथमतः— धातुके या प्रकृतिके साथ प्रत्ययके योगसे ही शब्द निष्पन्न होता है ; धातुके अनेक अर्थ होते हैं ; अतएव किसी भी शब्दके अनेक अर्थ हो सकते हैं। और शब्द सम्बलित वाक्यके भी अनेक अर्थ हो सकते हैं। शब्दके या वाक्यके सब प्रकारके अर्थ सब जगह गृहीत नहीं हो सकते हैं। प्रकरणके साथ जिस अर्थकी संगति रहे, एवं आलोच्य विषयके सम्बन्धमें अन्यत्र यदि कुछ लिखा हुआ है, तो उसके सहित जिस अर्थकी सगति रहे, वही अर्थ ग्रहणीय होगा। यही सर्वसम्मत रीति है।

विशेष लक्षणसे ही वस्तुका परिचय

द्वितीयतः—वस्तुका परिचय होता है विशेष लक्षणसे ; साधारण लक्षणसे वस्तुका परिचय नहीं होता। जिसने कभी भी गायको नहीं देखा, जो गायको पहचानता भी नहीं, उससे यदि गायको पहचाननेके लिए कहा जाय कि गाय चतुष्पद जन्तु है, उसके पूँछ होती है, रोम होते हैं, तब वह गायको पहचान नहीं सकेगा। क्योंकि कुत्ता, बिल्ली, बकरी, गाय, घोड़ा, गधा, बाघ, भालू आदि बहुत-से चतुष्पद जन्तुओंके पूँछ, रोम होते हैं ; उनमें-से कौन-सा जन्तु गाय है, यह कैसे जाना जाय ? गायका एक विशेष लक्षण है, जो और किसी चतुष्पद जन्तुमें नहीं होता। वह विशेष लक्षण है सास्ना (गलकम्बल)। गलेके नीचे कम्बलके जैसा लम्बायमान चर्मावृत मांसखण्डको

गलकम्बल कहा जाता है। इस विशेष लक्षणके ज्ञानसे ही गाय अनायास पहचानी जा सकती है।

वर्तमान कलिके अवतारका विशेष लक्षण—छन्नत्व

वर्तमान कलिके अवतारका भी एक विशेष लक्षण है; उस विशेष लक्षणके द्वारा ही उनके स्वरूपका निर्णय हो सकता है। वर्तमान कलिका यह विशेष लक्षण प्रह्लादकी उक्तिसे जाना जाता है।

भगवान् नृसिंहदेवकी स्तुति करते-करते प्रह्लादने कहा था —

इत्थं नृतिर्यगृषिदेवझषावतारै-
लोकान् विभावयसि हंसि जगत्प्रतीपान्।
धर्मं महापुरुष पासि युगानुवृत्तं
छन्नः कलौ यदभवस्त्रियुगोऽथ स त्वम्॥

भा. ७।९।३८

इस श्लोकका मर्मार्थ इस प्रकार है। भगवान् भिन्न-भिन्न युगमें नर, तिर्यक्, ऋषि, देव, झष (मत्स्य) आदि रूपोंसे अवतीर्ण होकर सब लोगोंका पालन करते हैं एवं जगत्के या जगद्वासी लोगोंके प्रतिकूल असुरोंका संहार करते हैं। युगनावृत्त धर्म (युगधर्म) की रक्षा या प्रवर्तन करते हैं। किन्तु कलियुगमें वे छन्न (गुप्त) रहते हैं।

छद् धातुसे 'छन्न' शब्द निष्पन्न है; छद् धातुका अर्थ आच्छादने, जो अन्य वर्णके द्वारा अपने स्वाभाविक वर्णको आच्छादन करें, उनको ही छन्न या आच्छादित कहा जाता है। 'छन्नः कलौ' वाक्यका तात्पर्य यही है कि कलिके अवतारका निजस्व स्वाभाविक वर्ण अन्य वर्ण द्वारा आच्छादित। यही उनका विशेष लक्षण है।

क्योंकि अन्य किसी भी युगमें, अर्थात् सत्यमें, त्रेतामें एवं द्वापरमें भगवान्का उल्लिखित छन्नत्व या आच्छादितत्व नहीं रहता ; सत्य, त्रेता और द्वापर—इन तीन युगोंमें भगवान् जिस-जिस रूपसे अवतीर्ण होते हैं, उस-उस रूपके स्वाभाविक वर्णको अनाच्छादित रखकर ही वे अवतीर्ण होते हैं ; इसलिए भगवान्का एक नाम त्रियुग भी है ; तीन युगोंमें स्वाभाविक वर्णसे अवतीर्ण होनेके कारण उनको त्रियुग कहा जाता है।

इस श्लोककी एक बात विशेष प्रणिधान योग्य है। प्रह्लादने कहा है—"छन्नः कलौ अभवः—आप कलियुगमें छन्न हुए थे।" 'अभवः' क्रियापद होता है 'भू' धातुका अतीतकाल वाचक क्रियापद। अर्थ - गतकालमें हुए थे। इससे जाना जाता है कि यह छन्न अवतार पूर्व-पूर्व कलियुगोंमें भी हो चुका है। जिस-जिस कलिमें ये पूर्वकालमें अवतीर्ण हुए थे, छन्न रूपमें अवतीर्ण हुए थे। यही अतीतकालीय क्रिया पद 'अभवः' शब्दकी व्यञ्जना लगती है।

परवर्ती आलोचनासे देखा जायगा कि यह छन्न अवतार होता है स्वयंभगवत्-स्वरूप, अतएव अन्य सब भगवत्-स्वरूपोंका, नृसिंहदेवका भी अंशी। अंश और अंशीके अभेदविवक्षासे ही प्रह्लादने ये सब कहा है।

पूर्वोद्धृत 'इत्थं नृतिर्यग्' इत्यादि (भा. ७।९।३८) श्लोक वर्तमानमें प्रचलित श्रीमद्भागवतमें देखनेमें आता है ; अतएव इस श्लोकमें जिस कलियुगकी बात कही गयी है, वह वर्तमान कलियुगके सम्बन्धमें ही प्रयुज्य है। 'छन्नः कलौ' वाक्यमें वर्तमान कलिके अवतारके छन्नत्वकी बात भी कही गयी है। **यह छन्नत्व या अन्यवर्णके द्वारा निजस्व स्वाभाविक वर्णका**

आच्छादिततत्व होता है वर्तमान कलिके अवतारका भी विशेष लक्षण।

आलोच्य 'कृष्णवर्णं त्विषाकृष्णम्' इत्यादि श्लोकमें वर्तमान कलियुगके अवतारका स्वरूप भी व्यक्त हुआ है। श्लोकका या श्लोकके अन्तर्गत शब्द या वाक्यके एकसे अधिक अर्थ हो सकते हैं; किन्तु जिस अर्थमें उल्लिखित विशेष लक्षण पाया जायगा, वही ग्रहणीय होगा, अन्य अर्थ ग्रहणीय नहीं होगा, क्योंकि पहिले ही कहा जा चुका है कि वस्तुका परिचय होता है विशेष लक्षणसे।

श्लोक-स्थित शब्दादिकी आलोचना

क। प्रथमार्धकी आलोचना—अब 'कृष्णवर्णं त्विषाकृष्णम्' इत्यादि श्लोकके अन्तर्गत शब्दादिका तात्पर्य आलोचित होता है। पहिले ही बताया जा चुका है कि श्लोकके प्रथमार्धमें 'कृष्णवर्णं त्विषाकृष्णं साङ्गोपाङ्गास्त्रपार्षदम्।'—इस वाक्यमें वर्तमान कलिके उपास्य स्वरूपका परिचय दिया गया है। यहाँ 'यजन्ति' क्रियापदका कर्म होनेके कारण 'कृष्णवर्णं' 'त्विषाकृष्णं' एवं 'साङ्गोपाङ्गास्त्रपार्षदम्'—ये तीन शब्द द्वितीया विभक्ति युक्त हैं। द्वितीया विभक्ति बाद देकर प्रथमा विभक्ति करनेसे वाक्य होगा 'कृष्णवर्णः त्विषाकृष्णः साङ्गोपाङ्गास्त्रपार्षदः'। हम प्रथमा विभक्ति विशिष्ठ रूपसे ही इन शब्दोंके अर्थकी आलोचना करेंगे।

कृष्णवर्णः—इस शब्दके दो अर्थ हो सकते हैं—

(१) कृष्णवर्ण है जिनका, वे कृष्णवर्ण। जिनका वर्ण (अर्थात् बाहरसे दृश्यमान वर्ण) कृष्ण, वे कृष्णवर्ण।

(२) कृष्णका (अर्थात् कृष्णके नाम-गुण-रूप-लीलादिका) वर्णन करें जो, वे कृष्णवर्ण ; श्रीकृष्णके नाम-गुण-रूप-लीला आदिके वर्णनकारी। टीकाकारोंने भी इस प्रकारका एक अर्थ लिखा है—

श्रीपाद जीवगोस्वामीने अपनी क्रमसन्दर्भ टीकामें लिखा है—"कृष्णं वर्णयति तादृशस्वपरमानन्द विलासस्मरणोल्लास-वशतया स्वयं गायति परमकारुणिकतया च सर्वेभ्योऽपि लोकेभ्य-स्तमेवोपदिशति यस्तम्—जो कृष्णका वर्णन करते हैं, अर्थात् अपने स्वयंके परमानन्द विलासके स्मरणजनित उल्लासवश जो स्वयं गान (कृष्ण-कीर्तन) करें एवं परम कारुणिकतावश जो सब लोगोंको भी कृष्ण-विषयमें उपदेश करते हैं, वे कृष्णवर्ण।"

श्रीपाद विश्वनाथ चक्रवर्तीने लिखा है—"कृष्णावतार-लीलादिवर्णनात् कृष्णवर्णम्।—कृष्णावतार-लीलादि वर्णन करनेके कारण कृष्णवर्ण।"

कृष्णवर्ण शब्दके इन दोनों अर्थोंमें-से कौन अर्थ ग्रहणीय है, या दोनों ही अर्थ ग्रहणीय है, 'त्विषाकृष्ण' शब्दके अर्थके साथ योजना करके यह निर्णय करना होगा।

त्विषाकृष्णः—यह शब्द सन्धिवद्ध भी हो सकता है, सन्धिवद्ध नहीं भी हो सकता है ; यदि सन्धिवद्ध न हो, तब 'त्विषाकृष्णः' की जगह दो शब्द होंगे—एक 'त्विषा', दूसरा 'कृष्णः'। और यदि सन्धिवद्ध हो तब 'त्विषा' एवं 'अकृष्णः' —इन दो शब्दोंकी सन्धिसे होगा 'त्विषाकृष्णः'—त्विषा + अकृष्णः। सन्धि न माननेसे जो अर्थ मिलेगा वह होगा सन्धिवद्ध शब्दके विपरीत ; एक अर्थमें 'कृष्ण,' दूसरे अर्थमें 'अकृष्ण'।

सन्धिहीन एवं सन्धियुक्त—इन दोनों भावोंसे अर्थ करने-

पर जो दो अर्थ मिलेंगे, उन दोनों अर्थोंके साथ 'कृष्णवर्ण' शब्दकी योजना करके ही श्लोक-वक्ताके अभिप्रायका निर्णय करना होगा।

पहिले सन्धि नहीं मानकर अर्थ किया जाय—

त्विषा कृष्णः (दो शब्द)। त्विट् शब्दके तृतीया विभक्तिके एक वचनमें होगा 'त्विषा'। 'त्विट्' शब्दका अर्थ— कान्ति, बाहर दिखनेवाला रूप या वर्ण। 'त्विषा' शब्दका अर्थ—कान्त्या, कान्ति द्वारा, कान्तिसे। 'त्विषा कृष्णः'—इस वाक्यका अर्थ होगा—कान्तिसे जो कृष्ण हैं, जिनका बाहरका दृश्यमान रूप या वर्ण है कृष्ण।

अब इस अर्थके साथ पूर्व-कथित 'कृष्णवर्ण' शब्दकी अर्थ-योजना करके देखा जाय। 'कृष्णवर्ण' शब्दका प्रथम अर्थ होता है—जिनका वर्ण कृष्ण है। और 'त्विषा कृष्णः' वाक्यका अर्थ होता है—जिनकी कान्ति या बाहरका दृश्यमान वर्ण कृष्ण है। जिनका निजस्व वर्ण कृष्ण है उनका बाहरका दृश्यमान वर्ण भी यदि कृष्ण हो, तब समझा जाता है कि उनका निजस्व कृष्णवर्ण अन्य किसी वर्णके द्वारा आच्छादित नहीं है; आच्छादित होनेसे आच्छादक वर्ण ही कान्ति रूपसे बाहर दृश्यमान होता। इस प्रकार देखा गया कि 'त्विषा कृष्णः' की जगह सन्धि न रहे, यहाँपर 'त्विषा' एवं 'कृष्ण' दो शब्द हों, तब वर्तमान कलिके अवतारका विशेष लक्षण 'छन्नत्व' नहीं पाया जाता। अतएव 'कृष्णवर्ण' शब्दके प्रथम अर्थके साथ इसकी संगति नहीं रहती।

अब 'कृष्णवर्ण' के द्वितीय अर्थके साथ सन्धिहीन त्विषा कृष्णः' वाक्यकी अर्थ योजना करके देखा जाय।

'कृष्णवर्ण' शब्दका द्वितीय अर्थ होता है—कृष्णके नाम-

गुण-रूपादिका वर्णन करनेवाला। और सन्धिहीन 'त्विषा कृष्णः' वाक्यका अर्थ होता है—उनका बाहर दृश्यमान वर्ण कृष्ण। बाहरके वर्णकी बात जानी गयी; भीतर अन्य कोई वर्ण है या नहीं, यह नहीं जाना गया। और कृष्ण-वर्णनकारीके वर्णकी बात भी कुछ जानी नहीं जाती।

अब देखना होगा कि जो कृष्णका वर्णन करते हैं, उनकी कान्ति यदि कृष्ण हो, तब वे कौन-से भगवत्-स्वरूप हो सकते हैं। ऋषि करभाजनकी उक्तिसे जाना जाता है कि वे कलिमें अवतीर्ण होते हैं।

सब भगवत्-स्वरूप ब्रह्माण्डमें अवतीर्ण नहीं होते। वैकुण्ठेश्वर चतुर्भुज नारायणके स्वयं-रूपके ब्रह्माण्डमें अवतरणकी बात जानी नहीं जाती। भगवान् ब्रह्माण्डमें अवतीर्ण होते हैं साधारणतः तीन रूपोंसे—युगावतार-रूपसे, लीलावतार-रूपसे, एवं स्वयं-रूपसे। किन्तु कलियुगमें किसी भी भगवत्-स्वरूपका लीलावतार नहीं है।

कलियुगमें भगवत्-स्वरूपका प्रत्यक्ष-रूप-धारण-लीलावतार नहीं होता—

श्रीश्रीचैतन्यचरितामृतसे जाना जाता है—

कलियुगे लीलावतार ना करे भगवान्।
अतएव 'त्रियुग' करि कहि तार नाम॥
चै. च. म. ६।९७

श्रीपाद रूप गोस्वामी अपने लघुभागवतामृतमें विष्णुधर्म-का निम्नलिखित प्रमाण उद्धृत करके यही कह गये हैं। यथा विष्णुधर्मे—

प्रत्यक्षरूपधृग् देवो दृश्यते न कलौ हरिः।
कृतादिष्वेव तेनासौ त्रियुगः परिपठ्यते॥
ल. भा. १।२३१

विष्णुधर्म ग्रन्थमें देखनेमें आता है—कलिमें प्रत्यक्ष-रूप-धारी देव हरि दृष्ट नहीं होते ; कृतादिमें ही (कृतयुग या सत्ययुग, त्रेता युग एवं द्वापर युग—इन तीन युगोंमें ही) वे प्रत्यक्ष रूपधारी देव-रूपसे दृष्ट होते हैं ; इसीलिए उनको त्रियुग कहा जाता है। इसी अनुच्छेदके अन्तर्गत विवेच्य स्थलमें (पृष्ठ ६४ पर) श्रीमद्भागवत्का जो (७।६।३८) श्लोक उद्धृत हुआ, उसमें भी विष्णुधर्मके अनुरूप बात ही मिलती है।

जो हो, विष्णुधर्म-कथित 'प्रत्यक्षरूपधृग्देव' शब्दका तात्पर्य क्या है, इसकी विवेचना की जाय। भगवान् जब ब्रह्माण्डमें अवतीर्ण होते हैं, तब सभीको उनके स्वरूपकी उपलब्धि न होनेपर भी सभी उनको प्रत्यक्षरूपसे देख सकते हैं। 'प्रत्यक्षरूपधृक्' शब्दमें यही बात कही गयी है—सभी जिस रूपको प्रत्यक्ष कर सकें वही रूपधृक्, वही रूपधारी। किन्तु उनके जिस रूपको सभी प्रत्यक्ष कर सकें, उस रूपसे भगवान् कलियुगमें अवतीर्ण नहीं होते।

अब प्रश्न हो सकता है—शास्त्रसे जाना जाता है कि बुद्धदेव एवं कल्कि हैं वर्तमान कलियुगके लीलावतार। कल्कि अवश्य अभी तक अवतीर्ण नहीं हुए, कलियुगके अन्तमें वे अवतीर्ण होंगे। किन्तु बुद्धदेव तो पहिले ही अवतीर्ण हो चुके हैं एवं अन्तर्धान भी हो चुके हैं। बुद्धदेवके प्रकट कालमें उनको सभीने प्रत्यक्ष किया है ; अतएव वे तो प्रत्यक्षरूपधृक् ही थे। ऐसी हालतमें यह कैसे कहा गया कि कलियुगमें भगवान् प्रत्यक्षरूपधृक् रूपसे अवतीर्ण नहीं होते ?

उत्तरमें वक्तव्य इस प्रकार है। लघुभागवतामृतमें विष्णुधर्मके प्रमाणोंका उल्लेख है—

कलेरन्ते च संप्राप्ते कल्किनं ब्रह्मवादिनम् ।
अनुप्रविश्य कुरुते वासुदेवो जगत्स्थितिम् ॥
पूर्वोत्पन्नेषु भूतेषु तेषु तेषु कलौ हरिः ।
कृत्वा प्रवेशं कुरुते यदभिप्रेतमात्मनः ॥
अतोऽमिष्ववतारत्वं परं स्यादौपचारिकम् ॥

ल. भा १।२३२-२३४

अर्थ—कलिका अन्त संप्राप्त होनेपर भगवान् वासुदेव ब्रह्मवादी कल्किमें अणुप्रवेश करके जगतकी रक्षा करेंगे ।।२३२।। कलियुगमें श्रीहरि पूर्वोत्पन्न जीवोंमें प्रवेश करके अपने अभिप्रेत कार्यका निर्वाह करते रहते हैं ।।२३३।। इसलिए इनका अवतारत्व केवल औपचारिक मात्र है ।।२३४।।

उल्लिखित प्रथम श्लोकमें केवल कल्किकी बात कही गयी है; किन्तु द्वितीय श्लोकमें कलियुगके समस्त लीलावतारोंकी बात—अतएव बुद्धदेवकी बात भी—कही गयी है । कलिके लीलावतार बुद्धदेव एवं कल्कि भगवत्-स्वरूप नहीं हैं; वे जीवतत्त्व, आवेशावतार हैं ।

श्रीपाद जीवगोस्वामीने अपने (श्रीकृष्णसन्दर्भीया) सर्वसम्वादिनीमें भी (साहित्य परिषत् संस्करण, १५७ पृष्ठ) कहा है—

अयं कल्किर्बुद्धश्च प्रतिकलियुग एवेत्येके । एतौ चावेशाविति विष्णुधर्ममतम् । तथाहि— प्रत्यक्षरूपधृग्देवो दृश्यते न कलौ हरिः (इत्यादि पूर्वोद्धृत श्लोकत्रय) ।.......... जीव विशेषाविष्ट आवेशरूपः ।।

—कोई-कोई कहते हैं कि कल्कि और बुद्ध प्रति कलियुगमें ही आविर्भूत होते हैं । विष्णुधर्मके मतसे कल्कि और बुद्ध होते

हैं आवेशावतार। विष्णुधर्ममें लिखा है—कलियुगमें प्रत्यक्ष-रूपधृग् हरि आविर्भूत नहीं होते (यहाँ पर पूर्व-उल्लिखित तीन श्लोकोंका अनुवाद संयोजनीय है)।······ —जीव विशेषमें आविष्टरूपको आवेशावतार कहते हैं।

अपनी अभीष्ट-सिद्धिके लिए जिस योग्य जीवमें भगवान् अपनी कोई-कोई शक्ति संचारित करते हैं, उसी योग्य जीवको कहते हैं आवेशावतार।

ज्ञानशक्त्यादिकलया यत्राविष्टो जनार्दनः।
त आवेशा निगद्यन्ते जीवा एव महत्तमाः॥

ल. भा. १।१८

ऐसे आवेशावतारकी कथा पद्मपुराणमें भी है—

आविष्टोऽभूत् कुमारेषु नारदे च हरिर्विभुः।
आविवेश पृथुं देवः शंखी चक्री चतुर्भुजः॥

ल. भा. १।२२६-२२७

सनत्कुमारादि, नारद एवं पृथु भी आवेशावतार हैं।

बुद्धदेव भगवत्-स्वरूप नहीं हैं, इसका एक चाक्षुष प्रमाण भी विद्यमान है। उनका देहावशेष अभी भी विद्यमान है। अन्तर्धानके समय किसी भी भगवत् स्वरूपका देहावशेष नहीं रहता, जीवका ही देहावशेष रहता है।

अब प्रस्तावित विषयकी आलोचना की जाय। पहिले बताया जा चुका है कि भगवान् युगावताररूपसे, लीलावताररूपसे एवं स्वयंरूपसे ही अवतीर्ण होते हैं। पूर्व आलोचनासे देखा गया है कि कलियुगमें वे लीलावताररूपसे अवतीर्ण नहीं होते। तब कलियुगमें यदि वे युगावतार-रूपसे, या स्वयंरूपसे अवतीर्ण होकर कृष्णका वर्णन करें, तब कान्तिसे कृष्ण होनेपर

विशेष लक्षण छन्नत्व पाया जाता है या नहीं, इसकी विवेचना की जाय।

जिस युगके जो युगावतार हैं, वे केवल उसी युगमें अवतीर्ण होते हैं। एक युगके युगावतार कभी भी अन्य किसी भी युगमें अवतीर्ण नहीं होते। अतएव यहाँ युगावतारके अवतरण-प्रसंगकी आलोचना करते समय कलिके युगावतारकी बातकी ही विवेचना करनी होगी। पहिले ही युगावतार प्रसंगमें पृष्ठ·······४६···पर कहा गया है कि कलिके साधारण युगावतार हैं कृष्ण, उनका वर्ण भी कृष्ण है। वे यदि अवतीर्ण हों, तब उनका निजस्व स्वाभाविक वर्ण होगा कृष्ण; उनकी कान्ति या बाहरसे दृश्यमान वर्ण भी यदि कृष्ण हो, तो छन्नत्व या आच्छादित्व नहीं होगा, यह सहज ही समझा जाता है। अतएव कलिके साधारण युगावतार कृष्णका अवतरण स्वीकार नहीं किया जाता।

स्वयंभगवान् श्रीकृष्णका निजस्व स्वाभाविक वर्ण भी कृष्ण है; उनकी कान्ति भी यदि कृष्ण हो, तो भी छन्नत्व नहीं पाया जाता।

इस प्रकार देखा गया कि 'त्विषाकृष्ण' वाक्यमें सन्धि विहीन दो शब्द हैं—ऐसा माननेसे कलिके अवतारका विशेष लक्षण छन्नत्व नहीं पाया जाता। अतएव 'त्विषाकृष्ण' शब्दका सन्धि विहीनत्व श्लोकका अभिप्रेत नहीं हो सकता।

अब सन्धियुक्त एक शब्द मानकर 'त्विषाकृष्ण' शब्दके तात्पर्यकी आलोचना की जा रही है।

त्विषाकृष्ण (एक शब्द)। त्विषा + **अकृष्ण** = त्विषाकृष्ण।

कान्तिसे अकृष्ण, जिनकी कान्ति या बाहरसे दीखनेवाला वर्ण अकृष्ण हो– कृष्ण न हो। इस अर्थके साथ 'कृष्णवर्ण' शब्दके दोनों अर्थोंकी योजना करके विचार किया जा रहा है।

'कृष्णवर्ण' शब्दका प्रथम अर्थ होता है—जिनका वर्ण है कृष्ण, उनकी कान्ति यदि अकृष्ण हो, तब छन्नत्व मिल जाता है। किसी अकृष्ण वर्ण द्वारा उनका निजस्व कृष्णवर्ण आच्छादित है।

'कृष्णवर्ण' शब्दका द्वितीय अर्थ है –कृष्णके नाम-रूप-आदि वर्णन करनेवाले; उनकी कान्ति अकृष्ण है। उनके निजस्व वर्णके सम्बन्धमें कुछ पता नहीं लगता।

तब वे कौन-से भगवत्-स्वरूप हो सकते हैं? पूर्वोल्लिखित विचारके अनुसार कलियुगमें जब भगवान्का प्रत्यक्षरूपधृक् लीलावतार नहीं होता, तब वे हो सकते हैं या तो युगावतार अथवा स्वयंभगवान्। कलिके साधारण युगावतारका वर्ण भी कृष्ण है, स्वयंभगवान् श्रीकृष्णका वर्ण भी कृष्ण है। इन दो स्वरूपोंमें-से कोई यदि अकृष्ण-वर्णसे अपने स्वाभाविक कृष्णवर्णको (किसी भी अकृष्ण वर्ण द्वारा) आच्छादित करके अवतीर्ण हों एवं कृष्णनामगुणादि वर्णन करें, तभी छन्नत्व मिलता है।

इस प्रकार देखा गया कि 'त्विषाकृष्ण' शब्दको सन्धियुक्त एक शब्द माननेसे 'कृष्णवर्ण' शब्दके दो अर्थोंमें प्रत्येकमें ही कलिके अवतारका विशेष लक्षण छन्नत्व मिल जाता है। अतएव, इसीको श्लोकोक्तिका अभिप्राय मानकर ग्रहण कर लिया जाय।

किन्तु अब और प्रश्न उठता है कि अकृष्ण किसी भी वर्ण द्वारा अपने स्वाभाविक कृष्णवर्णको आच्छादित करके

कौन-से भगवत्-स्वरूप अवतीर्ण होते हैं? कलिके साधारण युगावतार? या स्वयंभगवान्?

किसी भी युगके युगावतार कभी भी अन्य किसी वर्णसे निजस्व वर्णको आच्छादित करके अवतीर्ण हों—इसका कोई प्रमाण किसी भी शास्त्रमें नहीं मिलता। अतएव युगावतारका अवतरण स्वीकार करना नहीं बनता।

युगावतारका अवतरण स्वीकृत न हो सकनेके कारण स्वयंभगवान् श्रीकृष्णका अवतरण ही स्वीकार करना होगा।

किन्तु स्वयंभगवान् श्रीकृष्ण अन्य किसी वर्णसे अपना कृष्ण वर्ण आच्छादित करके अवतीर्ण हों, इसका प्रमाण है या नहीं? इसके प्रमाणके बिना स्वयंभगवान् श्रीकृष्णका अवतरण भी किस प्रकार स्वीकार हो सकता है?

इसके सम्बन्धमें वक्तव्य इस प्रकार है। पहिले पृष्ठ ४५-९६ पर 'आसन् वर्णास्त्रयोह्यस्य' (भा. १०।८।१३) श्लोककी आलोचनामें देखा गया है कि स्वयंभगवान् श्रीकृष्ण पूर्वके किसी कलियुगमें पीतवर्णसे अवतीर्ण हुए थे एवं यह पीतवर्ण-स्वरूप भी स्वयंभगवान् ही थे। पीतवर्ण है 'अकृष्णवर्ण', यह कृष्णवर्ण नहीं है। अतएव स्वयंभगवान् श्रीकृष्ण अकृष्ण पीतवर्णसे स्वयंभगवत्-स्वरूप-रूपसे अवतीर्ण होते हैं, अर्थात् अपने स्वाभाविक कृष्णवर्णको अकृष्ण-पीतवर्णसे आच्छादित करके अवतीर्ण होते हैं, इसका प्रमाण शास्त्रमें भी मिलता है। पीतवर्णके अतिरिक्त अन्य किसी भी अकृष्ण वर्णसे—रक्त, स्वेत आदि किसी भी अकृष्णवर्णसे—अपने स्वाभाविक कृष्णवर्णको आच्छादित कर स्वयंभगवान् श्रीकृष्ण स्वयंभगवत्-स्वरूप-रूपसे कभी अवतीर्ण होते हों, इसका भी

कोई शास्त्र-प्रमाण देखनेमें नहीं आता ; एकमात्र पीतवर्णकी बात ही शास्त्रमें मिलती है। अतएव आलोच्य 'अकृष्ण' वर्ण एकमात्र पीतवर्ण ही बताता है। कविराज गोस्वामीने कहा है—

अकृष्णवर्णे कहि पीतवरण ॥ चै. च. आ ३।४५॥

टीकामें श्रीपाद जीव गोस्वामीने भी लिखा है—"त्विषा कान्त्या योऽकृष्णो गौरस्तम् सुमेधसौ यजन्ति।" श्रीजीवपादने यहाँ पर 'अकृष्ण' शब्दका अर्थ लिखा है 'गौर'। गौर एवं पीत भिन्न नहीं होते। श्रीपाद विश्वनाथ चक्रवर्तीने भी लिखा है—"त्विषा बहिः स्फुरन्त्या कान्त्या अकृष्णं..........पीतमन्तः कृष्णं बहिर्गौरम् ।—बाहर जो स्फुरित हो, वह कान्ति है अकृष्ण अर्थात् पीत ; अन्तःकृष्ण बहिर्गौर। अर्थात् इस स्वरूपका भीतर है कृष्णवर्ण, किन्तु बाहर है गौर या पीतवर्ण।"

स्वामीपादकी टीकाका तात्पर्य—इस (भा. ११।५।३२) श्लोककी टीकामें श्रीधर स्वामिपादने लिखा है—"रुक्षतां व्यवर्तयति। त्विषा कान्त्या अकृष्णं इन्द्रनीलमणिवदुज्ज्वलम्। यद्वा त्विषा कृष्णं कृष्णावतारं अनेन कलौ कृष्णावतारस्य प्राधान्यं दर्शयति।" इस टीकामें स्वामिपादने 'त्विषाकृष्णं' शब्दके प्रसंगमें दो प्रकारका अभिप्राय व्यक्त किया है। उनकी प्रथम उक्तिका अभिप्राय इस प्रकार है—त्विषा+अकृष्ण= त्विषाकृष्ण। इस 'त्विषाकृष्ण' शब्दसे प्रस्तावित अवतारके वर्णकी रुक्षता निरसित हुई है ; क्योंकि वे "त्विषा कान्त्या अकृष्णः—कान्तिसे अकृष्ण हैं।" 'अकृष्ण' शब्दसे कौन-सा वर्ण समझा जाय—यह स्वामिपादने नहीं बताया। 'अकृष्ण' शब्दके प्रसंगमें उन्होंने लिखा है—'इन्द्रनीलमणि जैसा उज्ज्वल' ; इन्द्रनीलमणिका वर्ण नहीं बताया गया। इन्द्रनीलमणिकी

उज्ज्वलता अति प्रसिद्ध है। स्वामिपादने प्रस्तावित अवतारकी कान्तिकी केवल उज्ज्वलताकी बात ही कही है, कान्तिके स्वरूपकी बात नहीं कही। इसके बाद 'यद्वा—अथवा' कहकर स्वामिपादने जो कहा है, उसमें 'त्विषा कृष्ण' को सन्धिहीन दो शब्द माना है एवं अर्थ किया है—'त्विषा कृष्णं—कान्तिसे कृष्ण'। जिनको कान्तिसे कृष्ण कहा गया है, वे कौन हैं? इस प्रकारके प्रश्नकी आशंका करके स्वामिपादने लिखा है—"त्विषा कृष्णं कृष्णावतारम्—कान्तिसे जो कृष्ण हैं, वे हैं कृष्णावतार अर्थात् श्रीकृष्ण।" उन्होंने और भी कहा है—"अनेन कलौ कृष्णावतारस्य प्राधान्यं दर्शयति—इसके द्वारा कलिमें कृष्णावतारकी प्रधानता प्रदर्शित हुई है।" टीकाकी इस द्वितीय उक्तिकी व्यञ्जना इस प्रकार होती है कि श्लोकमें कथित अवतार रूपसे जो कलिमें अवतीर्ण होंगे, वे स्वयंभगवान् श्रीकृष्ण ही हैं; कलिमें कृष्णावतारकी ही प्रधानता है।

स्वामिपादकी दोनों उक्तियोंके तात्पर्यकी एकत्र योजना करनेसे सारार्थ इस प्रकार हो सकता है। "श्लोकमें कथित भगवत्-स्वरूप हैं वास्तवमें स्वयंभगवान् श्रीकृष्ण ही; लेकिन उनकी कान्ति है नीलमणि जैसी परम उज्ज्वल अकृष्ण।" 'अकृष्ण' शब्दसे कौन-सा वर्ण समझा जाय, यह स्वामिपादने स्पष्ट नहीं बताया। 'अकृष्ण' शब्द निश्चय ही कृष्णवर्ण नहीं बताता।

श्रीमद्भागवतकी 'दीपिकादीपन' टीका प्रायः सर्वत्र ही स्वामिपादकी 'भावार्थ दीपिका' टीकाकी विवृति है। 'कृष्णवर्णं त्विषाकृष्णम्' इत्यादि श्लोककी 'दीपिकादीपन' टीकामें भी स्वामिपादका अभिप्राय ही परिस्फुट किया गया है।

इस टीकामें लिखा है—“**शुक्लोरक्तस्तथापीत इति पूर्वोक्ताभिप्रायेण रुक्षतां व्यवर्तयति। इन्द्रनीलमणिवदुज्ज्वलमिति इन्द्रनीलमणेः भास्वररूपत्वाद् गुप्तावतारसूचनम्। तथापि छन्नः कलौ यदभवस्त्रियुगोऽथ स त्वमिति प्रह्लादवाक्यानुसाराद् गोपनमेव युक्तम्, अतिरहस्यादित्यभिप्रायेण यद्वेति**”। इस टीकोक्तिका तात्पर्य इस प्रकार है। “शुक्लोरक्तस्तथा पीतः—इस प्रकारकी पूर्वोक्तिके अभिप्रायके अनुसार रुक्षता परिहृत होती है। इन्द्रनीलमणिके जैसा उज्ज्वल— इस उक्तिसे, इन्द्रनीलमणिके भास्वर (उज्ज्वल) रूपत्व हेतु गुप्त अवतार सूचित हुआ है। छन्नः कलौ इत्यादि प्रह्लाद-वाक्यके अनुसार गोपनता युक्तियुक्त है। अति रहस्यके अभिप्रायसे स्वामिपादने ‘यद्वा’ शब्दसे ‘अन्य बात’ बतायी है।” प्रह्लादने जो ‘छन्नः कलौ’ कहा है, उससे भी कलिके अवतारका गुप्तत्व सूचित हुआ है; कुछ गोपन करनेके लिए ही आच्छादन देना होता है। यहाँ पर जिस अवतारका संकेत किया गया है, उन्होंने निजस्व स्वाभाविक वर्णको आच्छादित कर गुप्त रक्खा है। किस वर्णके द्वारा निजस्व वर्णको छिपाया गया है, यह भी गोपनीय है। वे ‘अकृष्ण’ हैं, यह बात ‘त्विषाकृष्ण’ शब्दमें बता दी गयी है। दीपिका-दीपनका अभिप्राय ऐसा लगता है कि गोपनकारीका वर्ण भी गोप्य होनेके कारण ही स्वामिपादने ‘अकृष्ण’ शब्दसे कौन वर्ण समझा जाय, यह नहीं बताया, केवल उसकी उज्ज्वलताकी बात कहकर रुक्षताहीनता बतायी है।

जो हो, दीपिकादीपनने कहा है—“अतिरहस्याभिप्रायेन यद्वेति—अथवा, इत्यादि कहकर स्वामिपादने जो लिखा है, वह बता दिया गया है—अति रहस्यके अभिप्रायसे।” अर्थात् कलिके अवतारके अति गोपनीयताके कारण, उस गोपनीयताकी

रक्षाके लिए कहा गया है—कलिके जो अवतार हैं, वे वस्तुतः स्वयंभगवान् श्रीकृष्ण ही हैं, 'द्वापरे भगवान् श्यामः' इत्यादि वाक्यमें जो श्याम या कृष्णकी बात कही गयी है, वे स्वयंभगवान् श्रीकृष्णसे अन्य स्वरूप हैं, उनका कृष्ण वर्ण रुक्ष है ; किन्तु श्रीकृष्णका वर्ण इन्द्रनीलमणिकी तरह उज्ज्वल है। "**यद्वेति। न केवलं वर्णतः कृष्णः अपितु कान्त्यापि कृष्णावतारमित्यर्थः। अनेन श्लोकेन कृष्णावतारस्य प्राधान्यमित्युक्त्या द्वापरे भगवान् श्याम इत्यत्र रुक्षश्यामवर्णः कश्चन श्रीकृष्णादस्य एवावतार इति स्वाम्यभिप्रायः। गुप्ततयातु तदिष्टिरपि तत्र प्रथमं सूचितैव व्यक्तगौरावतारपक्षस्तु सन्दर्भादौ दृश्य इति॥ दीपिकादीपन॥**" (इष्टिः—अभिलाषः। शब्दकल्पद्रुम॥ तदिष्टिः– उनका —स्वामिपादका—अभिलाष या अभिप्राय)। इस टीकाकी उक्तिसे लगता है कि आच्छादक वर्ण गोपनीय होनेके कारण स्वामिपादने अपनी टीकामें पहिलेसे ही, सम्भवतः अकृष्ण शब्द कौन-सा वर्ण बताता है, इसका उल्लेख न करके, अपना अभिप्राय (गोपनीयताका अभिप्राय) सूचित किया है। उसका उल्लेख करदेनेसे गोपनीयता नहीं रहती। यह गोपनीय बात व्यक्त होनेसे गौरावतार ही स्पष्ट हो जाता है। श्रीजीवपादके सन्दर्भ आदिमें गौरावतार स्पष्ट कर दिया गया है।

दीपिका दीपनकी इस उक्तिसे समझा जाता है कि 'अकृष्ण' शब्दका अर्थ होता है 'गौर (पीत),' यही दीपिका-दीपनकारका अभिप्राय है एवं उनके मतसे स्वामिपादका भी गुप्त अभिप्राय है।

कृष्णवर्ण-त्विषाकृष्ण—दोनों शब्दोंकी आलोचनाका उपसंहार—इस प्रकार 'कृष्णवर्णं त्विषाकृष्णं' दोनों शब्दोंके तात्पर्यकी आलोचनासे जाना गया कि वर्तमान कलिके उपास्य

रूपसे जो अवतीर्ण होनेवाले हैं, उनके बारेमें त्रेतायुगमें ही ऋषि करभाजन निमि महाराजको बता गये हैं—वे होंगे स्वयंभगवान् श्रीकृष्ण ; किन्तु उनका अपना स्वाभाविक कृष्णवर्ण आच्छादित रहेगा पीतवर्ण या गौरवर्ण द्वारा एवं वे श्रीकृष्णके नाम-रूप-लीला आदिका भी वर्णन करेंगे।

पीतवर्ण स्वयंभगवान्का नित्यत्व—'कृष्णवर्णं त्विषाकृष्णम्' श्लोकमें ऋषि करभाजनने स्वयंभगवान्को वर्तमान कलियुगका उपास्य बताया है ; क्योंकि भगवान्को प्राप्त किये बिना जन्म-मृत्युका अन्त भी नहीं होता। भगवान्को पानेके उपयोगी साधनके अतिरिक्त अन्य साधनसे स्वर्गलोक, जनलोक, तपोलोक, महर्लोक एवं ब्रह्मलोकको पाना सम्भव है ; किन्तु उन सब लोकोंसे भी वापस आना पड़ता है, फिर जन्म लेना पड़ता है ; किन्तु भगवान्को पा-लेनेके बाद पुनर्जन्म नहीं होता। यह बात भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं ही अर्जुनको बता गये हैं।

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥

गीता ८।१६

अतएव भगवत्-प्राप्तिके लिए जो उपासना है, उसीकी सार्थकता है। भगवान् हैं नित्यवस्तु। नित्यवस्तुकी उपासनासे ही नित्यवस्तु भगवान्को पाया जाता है। यह बात ब्रह्मतत्व कथन-प्रसंगमें यमराजने नचिकेतासे कही है।

नह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवं तत्॥

कठोपनिषद् १।२।१०॥

—अध्रुव अर्थात् अनित्य (वस्तु) की उपासनासे कभी भी उस

ध्रुव अर्थात् नित्य वस्तुको (परब्रह्म भगवान्‌को) पाया नहीं जाता ।

पीतवर्ण स्वयंभगवान् जब उपास्य-स्वरूप हैं, तब वे सर्वतोभावेन नित्य ही होंगे। यदि कहा जाय कि वे वस्तुतः जब स्वयंभगवान् श्रीकृष्ण हैं, तब वे अन्य वर्णसे आच्छादित होनेपर भी नित्य हैं ; अतएव उनकी उपासना असार्थक नहीं हो सकती । इसके लिए वक्तव्य यह है कि पीतवर्ण स्वयंभगवान् वस्तुतः श्रीकृष्ण होनेपर भी, एवं श्रीकृष्ण अनादि एव नित्य होनेपर भी, पीतवर्ण स्वयंभगवान्‌की उपासना श्रीकृष्णस्वरूपकी उपासना नहीं हो सकती । नारायण-राम-नृसिंह आदि भी श्रीकृष्ण ही हैं ; तथापि नारायण-राम-नृसिंह आदि स्वरूपोंकी उपासना श्रीकृष्णकी उपासना नहीं है, उनकी उपासनासे श्रीकृष्ण उपासनाका फल प्राप्त नहीं होता । ऋषि करभाजनने पीतवर्ण स्वयभगवान्‌को कलिका उपास्य बताया है । पीतवर्ण स्वयंभगवान् —कलिमें पीतवर्णसे आच्छादित स्वयंभगवान् श्रीकृष्ण ही समझे जाते हैं । पीतवर्ण आच्छादनके सहित श्रीकृष्णकी उपासना ही अभिप्रेत है ; अतएव केवल श्रीकृष्णका नित्यत्व ही पीतवर्ण-आच्छादित स्वरूपका नित्यत्व नहीं बतायगा । उनके आच्छादनका भी नित्यत्व रहना आवश्यक है । आच्छादक पीतवर्ण यदि अनित्य हो या आगन्तुक हो, तब आच्छादनके अन्तरालमें अवस्थित श्रीकृष्ण नित्य होनेपर भी पीतवर्ण स्वयंभगवान्‌का नित्यत्व सिद्ध नहीं होगा । अतएव पीतवर्ण स्वयंभगवान्‌का आच्छादन, अर्थात् पीतवर्णका भी नित्य, अनादि एवं उसी स्वरूपके स्वरूपभूत होना आवश्यक है । जो स्वरूपभूत नहीं है, वह होगा आगन्तुक । जो स्वरूपभूत हो एवं स्वरूपसे

अनादिकालसे अवस्थित हो, उसीको नित्य कहा जाता है। इस स्वरूपको जब उपास्य कहा गया है, तब इस स्वरूपका आच्छादन पीतवर्णका नित्यत्व एवं स्वरूपभूतत्व स्वीकार करना ही होगा।

पीतत्वका हेतु—पीतवर्ण श्रीराधाके साथ एकरूपता—किन्तु स्वयभगवान् श्रीकृष्णका स्वाभाविक एवं स्वरूपभूत वर्ण है तमाल-श्यामल कृष्ण। उनका पीतवर्ण आवरण जब उनका स्वरूपभूत एवं नित्य अविच्छेद्य भावसे उनमें अवस्थित है, तब उनका स्वरूपभूत एवं उनमें नित्य अविच्छेद्य भावसे अवस्थित कोई वस्तु ही इस पीतवर्णका हेतु होगी। एकमात्र उनकी स्वरूपशक्ति ही उनकी स्वरूपभूत है एवं उनमें नित्य अविच्छेद्य भावसे अवस्थित है; अतएव उनकी स्वरूपशक्ति ही उनके पीतवर्णका हेतु होगी।

दो प्रकारसे शक्तिका विकास होता है—अमूर्त और मूर्त। अमूर्त शक्तिका कोई वर्ण नहीं होता; मूर्त शक्तिका वर्ण है। प्रत्येक मूर्त वस्तुका किसी-न-किसी प्रकारका वर्ण होता है। अतएव उनकी मूर्त-स्वरूपशक्ति ही उनके स्वरूपभूत पीतवर्णका हेतु होगी।

मूर्त-स्वरूपशक्ति है स्वरूपशक्तिकी अधिष्ठात्री। श्रीराधा हैं ह्लादिनी-प्रधाना स्वरूपशक्तिकी मूर्त-विग्रह। उनका वर्ण है पीतवर्ण या गौरवर्ण। वे ही हैं पूर्णशक्तिमान् श्रीकृष्णकी पूर्णा शक्ति।

राधा पूर्णशक्ति, कृष्ण पूर्णशक्तिमान्॥

चै. च. आ. ४।८३॥

पूर्णशक्ति श्रीराधा हैं पूर्णशक्तिमान् श्रीकृष्णकी कान्ताशक्ति, नित्यसंगिनी। श्रीराधा हैं मूल कान्ताशक्ति, या स्वयंकान्ता-शक्ति। स्वयंभगवान् श्रीकृष्ण जिस धाममें जिस स्वरूपमें विराजित हैं, उनकी नित्यसंगिनी एवं स्वरूपकान्ताशक्ति श्रीराधा भी उसी धाममें उनके अनुरूप कान्ताशक्ति-रूपसे विराजित हैं। व्रजमें श्रीकृष्ण स्वयंरूपसे विराजित हैं, स्वयंकान्ताशक्ति श्रीराधा भी उनकी नित्यसंगिनी कान्तारूपसे व्रजमें विराजित है। द्वारकामें श्रीकृष्ण प्रकाशरूपसे विराजित हैं, श्रीराधा भी अपने प्रकाशरूप महिषीगणरूपसे वहाँ श्रीकृष्णकी नित्यसंगिनी कान्तागणरूपसे विराजित हैं। वैकुण्ठमें श्रीकृष्ण अपने विलास-मूर्ति नारायण रूपसे विराजित हैं, उस धाममें श्रीराधा भी अपनी विलास-मूर्ति लक्ष्मीरूपसे विराजित हैं। इस प्रकार प्रत्येक धाममें श्रीराधा धामोपयोगी स्वरूपसे उस धामोपयोगी श्रीकृष्ण-स्वरूपकी नित्यसंगिनी कान्तारूपसे विराजित हैं। सन्धिनी प्रधाना स्वरूपशक्तिकी मूर्तविग्रह यशोदा माता या नन्द महाराज श्रीकृष्णके नित्य परिकर होनेपर भी सब धामोंके नित्य परिकर नहीं हैं; नारायणके पिता-माता-रूपसे वैकुण्ठमें उनका कोई प्रकाश नहीं है; अतएव उनको सर्वतोभावेन सब धामोंमें श्रीकृष्णका नित्यसगी नहीं कहा जाता। एक मात्र श्रीराधा ही सर्वतोभावसे सब धामोंमें उनकी नित्यसंगिनी हैं।

पूर्णशक्ति या स्वयंकान्ताशक्ति केवल श्रीराधा ही हैं, महिषीगण या लक्ष्मीगण पूर्णशक्ति या स्वयंकान्ताशक्ति नहीं हैं। वासुदेव-नारायण आदि जैसे श्रीकृष्णके अंश हैं, उनकी, कान्ताशक्ति महिषी-लक्ष्मीगण उसी प्रकार श्रीराधाकी अंश हैं। श्रीराधाके सम्बन्धमें श्रुतिने कहा है—"यस्या अंशे लक्ष्मीदुर्गादिका

शक्तिः ।। सिद्धान्तरत्न २.२२ अनुच्छेदमें उद्धृत अथर्ववेदान्तर्गत पुरुषबोधिनी श्रुतिवाक्य।" अतएव स्वयंभगवान्‌की नित्यसंगिनी कान्ताशक्ति एकमात्र श्रीराधा हैं, दूसरा कोई नहीं।

पीतवर्ण स्वयंभगवान् भी जब स्वयंभगवान् ही हैं, पीतवर्ण स्वयंभगवान्‌के मध्य जब पूर्णशक्तिमान् श्रीकृष्ण हैं, तब उन श्रीकृष्णके साथ उनकी पूर्णशक्ति या स्वयंकान्ता-शक्ति श्रीराधा भी उनकी नित्य-संगिनीरूपसे अवश्य ही रहेंगी। लेकिन विशेषता यह है कि व्रजेन्द्र-नन्दनके नित्यसंगिनी-रूपसे श्रीकृष्णसे श्रीराधाका पृथक अस्तित्व रहता है; किन्तु पीतवर्ण स्वयं-भगवान्‌के नित्यसंगिनी-रूपसे श्रीराधाका पृथक अस्तित्व नहीं रहता; यहाँ वे श्रीकृष्णको आच्छादित करके उनके वर्णके रूपमें ही उनकी नित्यसंगिनी हैं। श्रीराधा और श्रीकृष्ण शक्ति-शक्तिमान होनेके कारण स्वरूपतः अभिन्न हैं; लीलारसके आस्वादनके लिए कोई लीला तो पृथकरूपमें रहती है, और कोई अपृथक रूपमें। लीला नित्य होनेके कारण उसका पृथक रूप भी नित्य है और अपृथक रूप भी नित्य है। यही बात श्रीकृष्णदास गोस्वामी अपने चैतन्यचरितामृतमें बता गये हैं—

राधा पूर्णशक्ति, कृष्ण पूर्णशक्तिमान्।
दुइ वस्तु भेद नाहि, शास्त्र प्रमाण ।।
मृगमद, तार गन्ध—जैछे अविच्छेद।
अग्नि ज्वालाते जैछे नाहि कभु भेद ।।
राधा, कृष्ण ऐछे सदा एकइ स्वरूप।
लीला-रस आस्वादिते धरे दुइ रूप ।।

चै. च. आ. ४।८३-८५

राधाकृष्ण एक-आत्मा, दुइ देह धरि।
अन्योने विलसे, रस आस्वादन करि ।।

सेइ दुइ एक एबे चैतन्य गोसाञि।
रस आस्वादिते दोहें हैला एक टाँइ॥
चै. च. आ. ४।४६,५०

श्रीराधा अपने प्रति गौर या पीतवर्ण अङ्ग द्वारा अपने प्राणवल्लभ एवं नित्यसंगी श्रीकृष्णके प्रति-श्याम-अंगको आच्छादित कर और अपना पृथक अस्तित्व विलुप्त कर दोनों मिलकर एक ही स्वरूपसे विराजित हैं एवं उसके द्वारा स्वयंभगवान् श्रीकृष्णको पीत-वर्ण या गौर-वर्ण बनाकर अनादि-कालसे विराजित हैं, पीतवर्ण स्वयंभगवान्‌को उन्होंने स्वरूपभूत या स्वाभाविक पीतवर्ण दिया है। इसी स्वरूपसे इस प्रकार वे स्वयंभगवान्‌की नित्यसंगिनी हैं।

किस प्रकार पीतवर्णा श्रीराधा श्रीकृष्णके साथ उल्लिखित रूपसे मिलित हो सकती हैं एवं क्यों वे इस प्रकारसे साथ मिलित होती हैं, यह पहिले ही पृष्ठ २७-३८ पर प्रदर्शित हो चुका है।

इस प्रकार देखा गया कि हेम-गौराङ्गिनी श्रीराधा ही स्वयंभगवान्‌के पीतत्वका हेतु हैं।

यह भी जाना गया कि कलिके उपास्य पीतवर्ण स्वयंभगवान् हैं श्रीश्रीराधाकृष्ण-मिलित स्वरूप। पूववर्ती पृष्ठ २७-३८ की आलोचनासे जाना जाता है कि राधाकृष्ण-मिलित-विग्रह पीतवर्ण स्वयंभगवान्-रूपसे ब्रजबिहारी ब्रजेन्द्र-नन्दन श्रीकृष्णकी तीन अपूर्ण वासनाओंकी पूर्ति सम्भव है।

मुण्डक-मैत्रायणी-श्रुति-कथित रुक्मवर्ण स्वयं-भगवान् ही ये पीतवर्ण स्वयंभगवान् हैं—यह पीतवर्ण स्वयंभगवत्-स्वरूप ही हैं मुण्डक-मैत्रायणी श्रुति

कथित रुक्मवर्ण-स्वयंभगवान् । क्योंकि, पूर्ववर्ती आलोचनासे जाना गया है कि श्रुतिने जिस रुक्मवर्ण (पीतवर्ण) स्वयंभगवान्-की बात बतायी है, महाभारतके 'सुवर्णवर्णो हेमाङ्गः' इत्यादि वाक्यके 'हेमाङ्ग' शब्दसे एवं श्रीमद्भागवतके 'आसन् वर्णास्त्रयोऽह्यस्य' इत्यादि श्लोकके अन्तर्गत 'पीत' शब्दसे भी वही रुक्मवर्ण स्वयंभगवान्की बात कही गयी है । इसके अतिरिक्त अन्य किसी भी पीतवर्ण स्वयंभगवान्की बात किसी शास्त्रमें देखनेमें नहीं आती । अतएव आलोच्य 'कृष्णवर्ण त्विषाकृष्णम्' इत्यादि श्लोकमें जिस पीतवर्ण स्वयंभगवान्की बात कही गयी है, वे श्रुति-कथित रुक्मवर्ण स्वयंभगवान् ही हैं, दूसरा कोई स्वरूप नहीं हो सकता ।

अब 'कृष्णवर्ण त्विषाकृष्णम्' श्लोकके अन्तर्गत 'साङ्गोपाङ्गास्त्रपार्षद' शब्दके अर्थकी आलोचना होगी ।

साङ्गोपाङ्गास्त्रपार्षदः—अङ्ग और उपाङ्गरूप अस्त्र और पार्षदों सहित वर्तमान हैं जो, वे हैं साङ्गोपाङ्गास्त्रपार्षद । उनके अङ्ग और उपाङ्ग (प्रत्यङ्ग) तो उनमें नित्य ही वर्तमान हैं । ये ही नित्य वर्तमान अङ्गोपाङ्ग उनके अस्त्र और पार्षदका काम करते हैं । पहिले ही कहा जा चुका है कि आलोच्य श्लोकमें कथित पीतवर्ण स्वयंभगवान् हैं श्रुति-कथित रुक्मवर्ण स्वयंभगवान् । उन्हीं रुक्मवर्ण स्वयंभगवान्के अर्थात् उनके अङ्ग-प्रत्यङ्ग आदिके दर्शनमात्रसे ही पूर्वसंचित समस्त कर्मफल, यहाँ तक कि असुरत्व पर्यन्त, समूल विनष्ट हो जाते हैं एवं दर्शनकर्ता उसी क्षण प्रेम प्राप्त कर लेता है, यह भी पहिले पृष्ठ ८३-९०में कहा जा चुका है। यहाँ उनके अङ्ग-प्रत्यङ्ग असुरत्वका विनाश

कर अस्त्रका कार्य ही करते हैं। और रुक्मवर्ण स्वयंभगवान्के अवतरणका जगत् सम्बन्धी कार्य है बिना विचारे प्रेमदान (पृष्ठ ८६ द्रष्टव्य) जिसकी अनुकूलता पार्षदगण द्वारा होती है ; अतएव उनके अङ्ग-प्रत्यङ्ग पार्षदका कार्य भी करते रहते हैं। रुक्मवर्ण स्वयंभगवान् एवं आलोच्य श्लोकमें कथित पीतवर्ण स्वयंभगवान् एक एवं अभिन्न होनेके कारण मुण्डक श्रुतिका "यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्ण..... ....ब्रह्मयोनिम्। तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः" वाक्यमें जो कहा गया है, आलोच्य श्लोकके 'साङ्गोपाङ्गास्त्रपार्षदः' शब्दोंमें भी वही कहा गया है। (पृष्ठ ६८-८४ द्रष्टव्य)।

ख। द्वितीयार्धकी आलोचना—अब श्लोकके द्वितीयार्धकी आलोचना की जा रही है। द्वितीयार्धका पाठ है—'यज्ञैः सङ्कीर्तन-प्रायैर्यजन्ति हि सुमेधसः ॥'

यज्ञैः—यज्ञोंके द्वारा। इस श्लोककी टीकामें श्रीजीव-गोस्वामिपादने 'यज्ञैः' शब्दका अर्थ लिखा है 'पूजासम्भारैः' अर्थात् पूजाका सम्भार या पूजाका उपचार।

सङ्कीर्तनप्रायैः—यह होता है 'यज्ञैः' शब्दका विशेषण। "सङ्कीर्तप्रायैः—सङ्कीर्तन प्रधानैः। श्रीपाद विश्वनाथ चक्रवर्ती।" 'सङ्कीर्तन' शब्दके प्रसंगमें श्रीपाद जीवगोस्वामीने लिखा है—"सङ्कीर्तनं बहुभिर्मिलित्वा तद्गानसुखं श्रीकृष्णगानं तत्प्रधानैः ॥ क्रमसन्दर्भ ॥"—'श्रीकृष्णगान' कहनेसे श्रीकृष्ण विषयक गान, श्रीकृष्णका नाम-रूप-गुण-लीला-आदिका कीर्तन समझा जाता है। श्रीजीवपादने 'कृष्णगान' शब्दका एक विशेषण दिया है 'तद्गानसुख'। तद्गानसुखम्—तस्य (उनका, श्रीकृष्णका)

गानसुखं यत्र इति तद्गानसुखम्। गानसुख—गान-श्रवणजनित सुख। श्रीमन् महाप्रभुने कहा है—

कृष्णनाम, कृष्णगुण, कृष्णलीलावृन्द।
कृष्णेर स्वरूपसम सब चिदानन्द॥
ब्रह्मानन्द हैते पूर्णानन्द लीलारस।
ब्रह्मज्ञानी आकर्षिया करे आत्मवश॥
ब्रह्मानन्द हैते पूर्णानन्द कृष्णगुण।
अतएव आकर्षे आत्मारामेर मन॥

चै. च. म. १७।१३०-१३२

श्रीकृष्णके नाम-गुण-लीलादि आनन्द स्वरूप रसस्वरूप श्रीकृष्णकी तरह चिदानन्द होनेके कारण परम मधुर हैं। भगवन्नाम-गुणादिके आस्वादनके लिए भगवान् भी लालायित हैं। श्रीभगवान् नारायणने स्वयं ही कहा है—

"नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च।
मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद॥

हे नारद ! मैं वैकुण्ठमें नहीं रहता, योगियोंके हृदयमें भी नहीं रहता ; मेरे भक्तगण जहाँ (मेरे नाम-गुण-लीलादि) गायन करते हैं, मैं वहीं रहता हूँ।"—अर्थात् भक्तगणके द्वारा भगवान्के नाम-गुण-लीलादिका कीर्तन सुननेसे भगवान्को जितना आनन्द होता है, वैकुण्ठ या योगियोंके हृदयमें रहनेपर भी उनको उतना आनन्द नहीं होता। भगवान्के सुखके लिए ही भक्तगण भगवान्के सामने नाम-गुणादिका कीर्तन करते हैं। "श्रवणं कीर्तनं विष्णो ·········इति पुंसार्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नवलक्षणा। (भा ७।५।२३,२४)॥" इसलिए श्रीजीवपादने कहा है— "तद्गानसुखं श्रीकृष्णगानम्—श्रीकृष्णका सुखसाधक श्रीकृष्ण-

गान।" श्रीजीवने और भी कहा है—बहुतसे लोगोंका मिलकर श्रीकृष्ण-सुखसाधक श्रीकृष्ण गान करना ही संकीर्तन है एवं ऐसे कृष्णकीर्तन-प्रधान उपचारसे ही पीतवर्ण स्वयंभगवान्का यजन करना होगा। "सङ्कीर्तने बहुभिर्मिलित्वा तद्गानसुखं श्रीकृष्णगानं तत्प्रधानैः यज्ञैः पूजासम्भारैः सुमेधसः यजन्ति।" सुमेधसः—सुबुद्धि लोग। जो लोग कार्यसिद्धिका कौशल जानते हैं एवं कार्यकालमें उस कौशलका प्रयोग करते हैं, उनको ही सुबुद्धि कहा जाता है।

जो हो, पूर्वोद्धृत 'नाहं वसामि वैकुण्ठे' इत्यादि श्लोकसे जाना गया कि भगवान् भी अपने नाम-गुण-लीलादिके माधुर्यके आस्वादनके लिए अत्यन्त लालायित रहते हैं। वे भक्त-कीर्तित नाम-गुण-लीलादिका माधुर्य आस्वादन कर अत्यन्त आनन्द प्राप्त करते हैं। भगवान्के नाम-गुण-लीलादिका माधुर्य भगवन्माधुर्यके अन्तर्भुक्त है; क्योंकि उनके नाम-गुणादि उनसे अभिन्न हैं, उन्हींके स्वरूपभूत हैं। भगवान् इस माधुर्यका आस्वादन करते हैं प्रेमके विषयरूपसे, आश्रयसे नहीं; क्योंकि भगवान्में भगवद्-विषयक प्रेम नहीं है, हो भी नहीं सकता। किन्तु विषयरूपसे आस्वादनका जो आनन्द है, उसकी अपेक्षा आश्रय-रूपसे आस्वादनका आनन्द कोटि गुणा अधिक है (पृष्ठ ४-१६ द्रष्टव्य)। आलोच्य श्लोकमें कथित पीतवर्ण स्वयंभगवत्-स्वरूप हैं राधाकृष्ण-मिलित-स्वरूप; इसीलिए वे श्रीराधाके पूर्णतम विकासमय श्रीकृष्ण विषयक प्रेमके आश्रय एवं पूर्णतम प्रेमके आश्रयरूपसे अपने व्रजनन्दन स्वरूपका माधुर्य, अपने नाम-रूप-गुण-लीलादिका माधुर्य पूर्णतम रूपसे आस्वादन कर सकते हैं। वास्तवमें व्रजलीलामें श्रीकृष्णकी अपूर्ण तीन वासनाओंमें-से अपने माधुर्यके आस्वादनकी वासना ही मुख्यतम

है। यह वासना उनकी स्वरूपानुवन्धिनी है। जिस उपचारसे उनकी इस वासनाकी पूर्तिकी अनुकूलता हो सके, वही उपचार होगा उनके प्रीति-विधानका मुख्य या प्रधान उपाय। साधक या भक्तगण उनके सामने श्रीकृष्णके नाम-गुणादि कीर्तन करें, तव उस नाम-गुणादिके आस्वादनमें वे अपरिसीम आनन्द अनुभव कर सकते हैं। इसीलिए कहा गया है—

"**यज्ञैः सङ्कीर्तन-प्रायैः यजन्ति हि सुमेधसः**—सुबुद्धि व्यक्तिगण सङ्कीर्तन-प्रधान उपचारके द्वारा हो उनका यजन करते हैं—प्रीतिविधान करते हैं।"

'सङ्कीर्तन-प्रधान उपचार' कहनेका तात्पर्य यह है कि उनके प्रीति विधानके जितने प्रकारके उपचार हो सकते हैं, उनमें श्रीकृष्णके नाम-गुणादिका कीर्तन ही प्रधान उपचार है; क्योंकि इसके द्वारा उनकी स्वरूपानुबन्धि-वासनत्रयकी मुख्य वासना पूर्ण हो सकती है। अन्यान्य उपचार रहनेपर भी नामगुणादिका संकीर्तन प्रधानरूपसे रहना चाहिये; अन्यान्य उपचार न रहनेपर भी केवल नाम-रूपादिके सङ्कीर्तनसे ही वे अपरिसीम आनन्दका अनुभव करते हैं। एक उदाहरणसे विषयको समझनेकी चेष्टा की जाय। हम लोग बंगालियोंकी खाद्य वस्तुमें अन्न या भात होता है प्रधान। नाना प्रकारके व्यञ्जन आदि रहनेपर भी भात न रहनेसे हमारी तृप्ति नहीं होती। और भूखके समय व्यञ्जनादि छोड़कर केवल नमक-भातसे हमलोग तृप्त हो जाते हैं। उसी प्रकार अपने नाम-गुणादिके आस्वादनके लिए उनकी अत्यन्त लालसा या क्षुधा रहनेके कारण अन्य उपचार न रहनेपर भी केवल नाम-संकीर्तनसे ही—भक्तकी प्रीतिरूप लवणके साथ मिश्रित संकीर्तन रूप भातमें ही वे सर्वाधिक आनन्द अनुभव करते हैं।

'कृष्णवर्णं त्विषाकृष्णं' श्लोकका सारमर्म

आलोच्य श्लोकके प्रथमार्धमें वर्तमान कलियुगके उपास्य स्वरूपका परिचय दिया गया है—वे पीतवर्ण स्वयंभगवान् हैं श्याम सुन्दर श्रीकृष्ण, जिनका प्रति श्याम अङ्ग हेमगौराङ्गिणी श्रीराधाके प्रति-गौर अङ्ग द्वारा आच्छादित है। वे राधाकृष्ण-मिलित-स्वरूप हैं। द्वितीयार्धमें उनकी उपासना-पद्धतिकी बात बतायी गयी है—सङ्कीर्तन-प्रधान उपचारसे ही उनकी उपासना होती है।

पीतवर्ण स्वयंभगवान्‌का भक्तभाव*

आलोच्य श्लोकके 'कृष्णवर्णं' शब्दका एक अर्थ देखा गया है—कृष्णको, अर्थात् कृष्णके नाम-गुण-लीला आदिको वर्णन करें जो। यह अर्थ ग्रहण करनेसे जो विशेष लक्षण छन्नत्व पाया जाता है, वह भी प्रदर्शित हुआ है। इससे समझा जाता है कि वर्तमान कलिके अवतार पीतवर्ण स्वयंभगवान् श्रीकृष्णके नाम-गुण-लीला आदिका वर्णन करते हैं।

महाभारतोक्त सहस्रनाम-स्तोत्रके अन्तर्गत एक नाम आता है सुवर्णवर्ण। 'सुवर्णवर्णो हेमाङ्गः'। 'हेमाङ्ग' शब्द जो पीतवर्ण-अङ्ग विशिष्ट स्वरूपको बताता है वह पहिले ही पृष्ठ ६५ पर) प्रदर्शित हो चुका है। श्रीपाद शङ्कराचार्यने इस 'हेमाङ्ग स्वरूप' एवं मुण्डकश्रुति-प्रोक्त 'रुक्मवर्ण स्वरूप' के अभिन्नताकी बात कही है, यह भी पहिले पृष्ठ ८० पर कहा गया है।

'सुवर्ण' शब्दका एक अर्थ होता है—स्वर्ण, हेम। यह

* महाप्रभु श्रीगौराङ्गके तीसरे अध्यायका ६ठा अनुच्छेद.

अर्थ स्वीकार करनेसे 'सुवर्णवर्ण' शब्दका एक अर्थ होगा— सुवर्ण (हेम) के जैसा वर्ण है जिनका, वे सुवर्णवर्ण। किन्तु इस अर्थसे 'सुवर्णवर्ण' एवं 'हेमाङ्ग' एकार्थक हो जाता है। एकार्थक माननेसे 'सुवर्ण' एवं 'हेमाङ्ग' दो पृथक नाम नहीं होते ; लेकिन सहस्रनाम स्तोत्रमें इन दोनोंको दो पृथक नाम बताया गया है ; पृथक नाम न माननेसे नामोंकी एक हजार संख्या पूर्ण नहीं होती। अतएव 'सुवर्णवर्ण' शब्दके अन्तर्गत 'सुवर्ण' शब्द स्वर्ण या हेम नहीं समझा जा सकता। इसका अन्य अर्थ होगा। किन्तु वह अन्य अर्थ कौन-सा है ?

यहाँपर 'वर्ण' शब्द अक्षर बताता है ; जैसे, व्यञ्जन वर्ण (क, ख, ग, घ इत्यादि अक्षर), स्वरवर्ण (अ, आ इत्यादि अक्षर), अथवा संयुक्तवर्ण (ष्ण, क्म इत्यादि अक्षर)। 'सु' का अर्थ—उत्तम। 'सुवर्ण'—उत्तम अक्षर। उत्तम अक्षर क्या ? पुरुषोत्तम श्रीकृष्णके नामके अक्षरद्वय (कृ ष्ण) ही उत्तम अक्षर हैं। इस प्रकार 'सुवर्णवर्ण' शब्दका अर्थ होगा—'सुवर्णौ (उत्तम अक्षरद्वय, अर्थात् 'कृष्ण' नाम) वर्णयति यः (जो वर्णन करें), वे हैं 'सुवर्णवर्णः' जो कृष्णका वर्णन करें वे हैं 'सुवर्णवर्ण'। यही श्रीमद्भागवतोक्त 'कृष्णवर्णं त्विषाकृष्णम्' श्लोकके अन्तर्गत 'कृष्णवर्ण' शब्दका भी अर्थ है।

इस प्रकार देखा गया कि पीतवर्ण-स्वयंभगवत्-स्वरूपके सम्बन्धमें महाभारत एवं श्रीमद्भागवतने एक ही बात कही है कि वे श्रीकृष्णके नाम-गुणादिका वर्णन या कीर्तन करते हैं।

किन्तु श्रीकृष्णके नाम-गुण-लीलादिका कीर्तन है भक्तका कार्य। पीतवर्ण स्वयंभगवान् भी जब वही करते हैं, तब स्पष्ट भावसे ही जाना जाता है कि ये पीतवर्ण स्वयंभगवान् हैं

भक्तभावमय। स्वयंभगवान् होकर भी वे भक्तभावमय हैं ; यह उनका एक अपूर्व वैशिष्ट्य है।

पूर्ववर्ती अनुच्छेदमें पृष्ठ ११२ पर स्वयंभगवान्के 'पीतत्वका हेतु' नामक प्रबन्धमें कहा गया कि ये पीतवर्ण स्वयंभगवान् हैं राधाकृष्ण-मिलित स्वरूप—श्रीराधा और श्रीकृष्ण, इन दोनोंके मिलनसे एक स्वरूप। श्रीराधा हैं श्रीकृष्णविषयक प्रेमका या प्रेमभक्तिका आश्रय। उनके साथ सम्मिलित होनेके कारण पीतवर्ण स्वयंभगवान् भी हो गये हैं श्रीकृष्णविषयक प्रेमके या प्रेमभक्तिके आश्रय। इसीलिए वे भक्तभावमय हैं, उनमें पूर्णतम भक्तभाव है।

पीतवर्ण स्वयंभगवान् कृष्ण-विषयक प्रेमके आश्रय-प्रधान स्वरूप*

व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण हैं कृष्णविषयक प्रेमके विषयमात्र, आश्रय नहीं ; क्योंकि उनमें कृष्णविषयक प्रेम नहीं है, हो भी नहीं सकता। उनमें निश्चय ही भक्तविषयक प्रेम है, वे भक्तविषयक प्रेमके ही आश्रय हैं। कृष्णविषयक प्रेम जैसे अवस्था-विशेषमें रसत्वको प्राप्त होता है, वैसे ही भक्तविषयक प्रेम भी अवस्था-विशेषमें रसत्वको प्राप्त होता है। वे सब प्रकारसे कृष्णविषयक-प्रेमके विषय होनेके कारण सर्वविध कृष्णविषयक-प्रेमरसके भी विषय हैं एवं सर्वविध भक्तविषयक प्रेमके आश्रय होनेके कारण सर्वविध भक्तविषयक-प्रेमरसके भी आश्रय हैं। इसलिए श्रीकृष्णको कहा जाता है—सर्वरसके विषय और

---

* महाप्रभु श्रीगौराङ्गके तीसरे अध्यायका ७वाँ अनुच्छेद.

आश्रय । तथापि कृष्णविषयक प्रेमके और कृष्णविषयक-प्रेमरसके वे केवल विषय हैं, आश्रय नहीं ।

पीतवर्ण स्वयंभगवत्-स्वरूपमें श्रीकृष्ण और श्रीराधा दोनों ही हैं । श्रीकृष्ण कृष्णविषयक प्रेमके विषय होनेके कारण इस पीतवर्ण स्वरूपको कृष्णविषयक प्रेमका विषय भी कहा जाता है ; और श्रीराधा परिपूर्ण कृष्णविषयक प्रेमका आश्रय होनेके कारण यह पीतवर्णस्वरूप कृष्णविषयक प्रेमके आश्रय भी हैं । इस प्रकार देखा जाता है कि पीतवर्ण स्वयंभगवान् कृष्णविषयक प्रेमके विषय एवं आश्रय—दोनों ही हैं । यही है व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णसे पीतवर्णस्वरूपका वैशिष्ठ्य ।

किन्तु कृष्णविषयक प्रेमके विषय एवं आश्रय होनेपर भी इस पीतवर्ण स्वयंभगवत् स्वरूपमें प्रेमके आश्रयत्वका ही प्राधान्य है ; क्योंकि प्रेमके आश्रयरूपसे ही वे व्रजलीलाकी अपनी अपूर्ण तीन वासनाओंको पूर्ण करते हैं एवं इन अपूर्ण तीन वासनाओंकी पूर्ति ही उनके इस स्वरूपका प्रधान उद्देश्य है । लीलाके अनुरोधसे प्रेमका विषयत्व कभी-कभी स्फुरित हो सकता है ; किन्तु स्फुरित होनेपर भी वह उनकी स्वरूपानुबन्धिनी वासनाके अनुकूल नहीं होगा । प्रेमका आश्रयत्व ही है उनकी स्वरूपानुबन्धिनी वासनाका—अपूर्ण तीन वासनाओंकी पूर्तिकी वासनाके अनुकूल ; इसलिए इस पीतवर्ण स्वयंभगवत् स्वरूपको कृष्णविषयक प्रेमका आश्रय-प्रधान स्वरूप कहा जाता है ।

समग्र आलोचनाका सार मर्म*

पीतवर्ण स्वयंभगवत्-स्वरूपके सम्बन्धमें अब तक जितनी आलोचना की गयी है, उसका सारमर्म इस प्रकार है—

---

* महाप्रभु श्रीगौराङ्गके तीसरे अध्यायका ८वाँ अनुच्छेद.

क । मुण्डकश्रुति, मैत्रायणीश्रुति, महाभारत एवं श्रीमद्भागवतमें कथित पीतवर्ण स्वयंभगवत्-स्वरूप एक एवं अभिन्न—मुण्डक-मैत्रायणी श्रुति कथित 'रुक्मवर्ण (या पीतवर्ण) स्वयंभगवत्-स्वरूप' एक ही एवं अभिन्न स्वरूप है । श्रीपाद शङ्कराचार्यने भी यही कहा है (पृष्ठ ९० द्रष्टव्य) । श्रीमद्भागवतके 'आसन् वर्णास्त्रयोऽह्यस्य' श्लोकमें एवं 'कृष्णवर्णं त्विषाकृष्णम्' श्लोकमें जिन पीतवर्ण स्वयंभगवत्-स्वरूपकी बात कही गयी है, वे भी मुण्डक-मैत्रायणी श्रुति कथित 'रुक्मवर्ण' (या पीतवर्ण) स्वयभगवत्-स्वरूप ही हैं,'' अन्य कोई नहीं । क्योंकि, मूल-प्रमाण श्रुतिमें अन्य किसी भी पीतवर्ण स्वयंभगवान्का उल्लेख देखनेमें नहीं आता ।

ख । पीतवर्ण स्वयंभगवान् राधाकृष्ण मिलित स्वरूप—पीतवर्ण स्वयंभगवान् हैं सर्वाङ्गमें पीतवर्णसे आच्छादित स्वयंभगवान् श्रीकृष्ण । उनके पीतवर्णका हेतु हैं श्रीराधा (पृष्ठ ११२-११५ पर 'पीतत्वका हेतु' नामक प्रबन्ध द्रष्टव्य) । हेमगौराङ्गिणी श्रीराधाके प्रति-गौर-अङ्ग द्वारा श्यामसुन्दर श्रीकृष्णका प्रति-श्याम-अङ्ग आच्छादित होनेसे ही श्रीकृष्ण गौरवर्ण या पीतवर्ण हुए हैं ('राधा-भावकान्ति-सुवलित कृष्णस्वरूप—पीतवर्ण स्वयभगवान' पृष्ठ २७-४० पर एव 'पीतत्वका हेतु—पीतवर्णा श्रीराधाके साथ एकरूपता' पृष्ठ ११२-११५ पर देखिये) । अतएव पीतवर्ण स्वयंभगवान् है राधाकृष्ण-मिलित-स्वरूप, श्रीकृष्ण—इन दोनोंके मिलनसे एक ही स्वरूप मात्र ।

ग । पीतवर्ण स्वयंभगवान् भक्तभावमय—पीतवर्ण-स्वरूप स्वयंभगवान् होनेपर भी भक्तभावमय हैं (पृष्ठ १२१-१२३ देखिये)

घ। पीतवर्ण स्वयंभगवान् कृष्णविषयक प्रेमके आश्रय-प्रधान स्वरूप— पीतवर्ण स्वयंभगवान् कृष्ण विषयक प्रेमके विषय एवं आश्रय होनेपर भी उनमें कृष्णविषयक प्रेमके आश्रयत्वका ही प्राधान्य है। लीलाके अनुरोधसे कभी-कभी प्रेमका विषयत्व स्फुरित होनेपर भी आश्रयत्व ही उनकी स्वरूपानुबन्धिनी वासनाके अनुकूल होता है (पृष्ठ १२३ पर 'पीतवर्ण स्वयंभगवान कृष्ण-विषयक प्रेमके आश्रय-प्रधान स्वरूप' शीर्षक देखिये)।

ङ। पीतवर्ण स्वयंभगवान्के दर्शनमात्रसे द्रष्टाके पाप-पुण्यरूप कर्म, यहाँ तक कि असुरत्व पर्यन्त, समूल विनष्ट होते हैं——पीतवर्ण स्वयंभगवान्के दर्शन मात्रसे पाप-पुण्यरूप समस्त कर्म, यहाँ तक कि असुरत्व पर्यन्त, समूल विनष्ट हो जाते हैं, मायाका कोई भी दाग पर्यन्त नहीं रहता (पृष्ठ ८४ द्रष्टव्य)।

च। पीतवर्ण स्वयंभगवान् असुरका प्राण विनाश नहीं करते, असुरत्वका विनाश करते हैं—पीतवर्ण स्वयं-भगवान् असुरका प्राण विनाश नहीं करते। दर्शन-दान द्वारा असुरका असुरत्व विनष्ट करते हैं (पृष्ठ ८४ द्रष्टव्य)।

छ। पीतवर्ण स्वयंभगवान्के दर्शनमात्रसे द्रष्टाको प्रेम लाभ होता है——पीतवर्ण स्वयंभगवान्के दर्शन मात्रसे द्रष्टाके पाप-पुण्यरूप समस्त कर्मफल समूल विनष्ट हो जाते हैं एवं उसी क्षण वह प्रेम प्राप्त कर लेता है (पृष्ठ ८५ पर 'दर्शनमात्रसे प्रेम दातृत्व' शीर्षक द्रष्टव्य)।

ज। पीतवर्ण स्वयंभगवान्के दर्शन मात्रसे जो प्रेम प्राप्त करते हैं, उनके दर्शनसे भी दूसरे प्रेम प्राप्त करते हैं—पीतवर्ण स्वयंभगवान्के दर्शन मात्रसे जो प्रेम प्राप्त करता है, उस द्रष्टाको वही पीतवर्ण भगवान् प्रेमदातृत्वके सम्बन्धमें अपने सहित परम साम्य दे देते हैं, अर्थात् उस द्रष्टाके दर्शनसे भी दूसरे लोग पाप-पुण्यरूप समस्त कर्मफल समूल विधौत करके प्रेम प्राप्तकर सकते हैं (पृष्ठ ८५ पर 'परम-साम्यत्व दान' शीर्षक देखिये)।

झ। पीतवर्ण स्वयंभगवान्का ब्रह्माण्डमें अवतरण—मुण्डकश्रुतिसे जाना जाता है कि पीतवर्ण स्वयंभगवान् कभी-कभी ब्रह्माण्डमें अवतरित होते रहते हैं (पृष्ठ ८५ 'ब्रह्माण्ड में अवतरण' शीर्षक देखिये)।

ञ। पीतवर्ण स्वयंभगवान् कलियुगमें ही अवतीर्ण होते हैं—मुण्डक श्रुतिमें पीतवर्ण स्वयंभगवान्के ब्रह्माण्डमें अवतरणकी बात कही गयी है ; किन्तु कौन-से युगमे वे अवतीर्ण होंगे—यह नहीं बताया गया। श्रीमद्भागवतके 'आसन् वर्णास्त्रयो ह्यस्य' श्लोककी आलोचनासे जाना गया है कि वे गत किसी कलियुगमें अवतीर्ण हुए थे और श्रीमद्भागवतके 'कृष्णवर्णं त्विषाकृष्णम्' श्लोकमें कहा गया है कि वे बर्तमान चतुर्युगके अन्तर्गत कलिमें (अर्थात् वर्तमान कलियुगमें) अवतीर्ण होंगे। श्रीमद्भागवतकी इन सब उक्तियोंसे जाना जाता है कि पीतवर्ण स्वयभगवान् केवल कलियुगमें अवतीर्ण होते हैं ; अन्य किसी युगमें उनके अवतरणका कोई भी शास्त्र प्रमाण देखनेमें नहीं आता।

ट। पीतवर्ण स्वयंभगवान्के ब्रह्माण्डमें अवतरणका हेतु—स्वयंभगवान् श्रीकृष्णके ब्रह्माण्डमें अवतरणके हेतु

सम्बन्धीय आलोचनामें देखा गया है कि उनके अवतरणके दो हेतु रहते हैं, एक जगत्-सम्बन्धीय, दूसरा निज-सम्बन्धीय ; निज-सम्बन्धीय हेतुके द्वारा जगत्-सम्बन्धीय हेतुका आनुकूल्य साधित होता है पीतवर्ण स्वयंभगवान्के अवतरणके पक्षमें भी उल्लिखित दोनों हेतु—जगत् सम्बन्धीय हेतु एवं निज सम्बन्धीय हेतु—रहनेकी संभावना है ।

जगत् सम्बन्धीय हेतु—मुण्डकश्रुति-वाक्यकी आलोचनामें देखा गया है कि साधन-भजनकी अपेक्षा न रखकर बिना विचारके प्रेमदान करना ही स्वयंभगवान्के ब्रह्माण्डमें अवतरणका हेतु होता है (पृष्ठ ८६ पर 'निर्विचारसे प्रेमदातृत्व' शीर्षक देखिये) ।

निज सम्बन्धीय हेतु—पूर्ववर्ती 'ख ।' अनुच्छेदमें गौराङ्गिणी श्रीराधाके मिलित होनसे ही स्वयंभगवान् श्रीकृष्ण पीतवर्ण स्वयंभगवान् हुए हैं । पृष्ठ ४-१६ में प्रदर्शित हुआ है कि ब्रजलीलामें श्रीकृष्णकी तीन वासनाएँ अपूर्ण रहती हैं । उन अपूर्ण वासनाओंको पूर्ण करनेके लिए ही श्रीकृष्णके लिए श्रीराधाके साथ मिलित होकर पीतवर्ण स्वयंभगवान् होना आवश्यक है (देखिये पृष्ठ १७ से ४०) । अतएव पीतवर्ण स्वयंभगवान्की अपूर्ण तीन वासनाओंकी पूर्ति ही है उनका स्वरूपानुबन्धी कार्य । वे जब ब्रह्माण्डमें अवतीर्ण होते हैं, तब भी उनका यह स्वरूपानुबन्धी कार्य रहेगा । जितने दिनों वे ब्रह्माण्डमें प्रकट रहेंगे, उतने दिनों अपनी इन तीन अपूर्ण वासनाओंकी पूर्णात्मिका लीलाका अनुष्ठान करेंगे । श्रीकृष्णके अवतरण-हेतु सम्बन्धीय आलोचनामें देखा गया है कि अपने अवतरणके ब्रह्माण्ड-सम्बन्धीय उद्देश्यकी सुष्ठु-सिद्धिके लिए, निज-सम्बन्धीय हेतुकी (अर्थात् भक्तके प्रेमरसनिर्यासके आस्वादनरूप

हेतुकी) पूर्तिके उद्देश्यसे जिस रस-आस्वादिका लीलाका उन्होंने प्रकटन किया है, उसका विशेष प्रयोजन था। पीतवर्ण स्वयंभगवान्‌के अवतरणके ब्रह्माण्ड-सम्बन्धीय उद्देश्यकी सुष्टुसिद्धिके लिए भी, तद्रूप उनके निज-सम्बन्धीय उद्देश्यकी पूर्तिके लिए जिन लीलाओंका अनुष्ठान करना होगा, उन लीलाओंके प्रकटनका भी प्रयोजन हो सकता है। प्रयोजन क्या है, यह पीतवर्ण स्वयंभगवान्‌की प्रकटलीलाकी आलोचनामें देखा जायगा। इस प्रकार देखा जाता है कि अपूर्ण तीन वासनाओंकी पूरणात्मिका लीलाका प्रकटन ही पीतवर्ण स्वयंभगवान्‌के अवतारका निज सम्बन्धीय हेतु है। वे अपूर्ण तीन वासनाएँ हैं—अपने व्रजेन्द्रनन्दन-स्वरूपके माधुर्यकी आस्वादन-वासना, उस माधुर्यके आस्वादनसे श्रीराधा जैसा आनन्द पाया करतीं हैं, उस आनन्दके अनुभवकी वासना एवं श्रीराधाकी प्रेम-महिमा जाननेकी वासना।

ठ। जिस द्वापरमें स्वयंभगवान् श्रीकृष्ण अवतीर्ण होते हैं, उसके अव्यवहित परवर्ती कलियुगमें ही पीतवर्ण स्वयंभगवान्‌का अवतरण—पूर्ववर्ती 'ञ' अनुच्छेदमें कहा गया है कि कलियुगमें ही पीतवर्ण स्वयंभगवान् अवतीर्ण होते हैं। वर्तमान चतुर्युगके अन्तर्गत गत द्वापरमें ही स्वयंभगवान् श्रीकृष्ण अवतीर्ण हुए थे। और 'कृष्णवर्णं त्विषाकृष्णम्' श्लोकमें गत त्रेतायुगमें ऋषि करभाजन कह गये हैं कि वर्तमान कलियुगमें अर्थात् वर्तमान चतुर्युगके अन्तर्गत कलियुगमें, पीतवर्ण स्वयं-भगवान् अवतीर्ण होंगे। इससे समझा जाता है कि किसी चतुर्युगके अन्तर्गत जिस द्वापरमें स्वयंभगवान् श्रीकृष्ण अवतीर्ण

होते हैं, उसी चतुर्युगके अन्तर्गत, अव्यवहित परवर्ती कलियुगमें पीतवर्ण स्वयंभगवान् अवतीर्ण होते हैं।

पीतवर्ण स्वयंभगवान्‌को गौरकृष्ण भी कहा जाता है*

पीतवर्ण जो है, गौरवर्ण भी वही है। कलिमें जो पीतवर्ण अवतीर्ण होते हैं, वे पीतवर्णसे आच्छादित स्वयं श्रीकृष्ण ही हैं, और कोई नहीं। इसलिए उनको गौरकृष्ण भी कहा जाता है।

* महाप्रभु श्रीगौराङ्गके तीसरे अध्यायका ६वाँ अनुच्छेद.

श्रीचैतन्यदेवकी पीतवर्ण-स्वयंभगवत्ता पर विचार*

१. स्वयंभगवान् श्रीकृष्ण स्वरूपतः द्विभुज, नरवपु, नरलील

परब्रह्म स्वयंभगवान् श्रीकृष्ण स्वरूपतः द्विभुज, नराकृति हैं—

"यत्रावतीर्णं कृष्णाख्यं परब्रह्म नराकृतिम् ॥

वि. पु. ४।११।४

जहाँपर श्रीकृष्ण-नामक नराकृति परब्रह्म अवतीर्ण हुए थे।"

"सत्पुण्डरीकनयनं मेघाभं वैद्युताम्बरम्।
द्विभुजं ज्ञानमुद्राढ्यं वनमालीनमीश्वरं ॥

गोपाल पूर्वतापनी श्रुति २।१

वे कमलनयन, नवजलधरवर्ण, पीतवसन, द्विभुज, ज्ञानमुद्राढ्य, वनमालाधारी और ईश्वर हैं।"

कृष्णेर जतेक खेला, सर्वोतम नरलीला,
नरवपु कृष्णेर स्वरूप।
गोपवेश वेणुकर, नवकिशोर नटवर,
नरलीलार हय अनुरूप॥

चै. च. म. २१।८३

स्वयंभगवान् श्रीकृष्णका द्विभुजत्व, नरवपुत्व एवं नरलीलत्व हैं उनके स्वरूपभूत। अनादि कालसे ही उनका द्विभुजत्व और नरवपुत्व है। उस द्विभुज और नरवपुको लेकर

---

* महाप्रभु श्रीगौराङ्गका पाँचवाँ अध्याय.

ही वे ब्रह्माण्डमें अवतीर्ण होते हैं। नया नरदेह धारणकर अवतीर्ण नहीं होते, अपने नित्यसिद्ध नरदेहसे ही अवतीर्ण या लोकनयनोंको गोचरीभूत होते हैं। वे जब ब्रह्माण्डमें अवतीर्ण होते हैं, तब नरलीलाकी सिद्धिके लिए जन्मलीलाका अनुकरण करके ही, अपने अवतरणके पूर्व अवतरित अपने माता-पिता-रूप नित्यसिद्ध परिकरोंके योगसे ही, वे अवतीर्ण होते हैं। 'अनुकरण' कहा गया इसलिए कि स्वरूपतः उनका जन्म नहीं है, हो भी नहीं सकता ; क्योंकि वे नित्य, अज, अनादि हैं।

२. पीतवर्ण स्वयंभगवान् भी द्विभुज, नरवपु, नरलील

द्विभुज, नरवपु, नरलील स्वयंभगवान् श्रीकृष्ण ही पीतवर्णसे अपने स्वरूपगत श्यामवर्णको सम्पूर्ण भावसे आच्छादित कर पीतवर्ण-स्वयंभगवान् स्वरूपसे अवतीर्ण होते रहते हैं—यह पहिले ही कहा जा चुका है। अतएव पीतवर्ण स्वयंभगवान् भी द्विभुज, नरवपु एवं नरलील होंगे—यह सहज ही समझा जाता है।

३. ब्रह्माण्डमें अवतीर्ण नरवपु भगवान्को पहचान लेना सबके लिए सम्भव नहीं

द्विभुज नरवपु स्वयंभगवान् जब ब्रह्माण्डमें मनुष्योंके बीच अवतीर्ण होते हैं, तब उनके स्वरूपको जान लेना सबके लिए सम्भव नहीं है। बहुतसे लोग सोचते हैं कि जैसे अन्य दस आदमी हैं, वैसे ही ये भी लगते हैं ; अतः अन्य दस मनुष्यों जैसे मनुष्य ये भी हैं। यह बात स्वयं श्रीकृष्ण भी अर्जुनसे कह गये हैं—

"अवजानन्ति मां मूढा मानुषी तनुमाश्रितम्।
स्वयं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥

गीता ९।११

मैं भूतोंका महेश्वर हूँ ; मेरे इस परम तत्वके जो जानकार नहीं हैं, वे मूढ़ लोग मुझको मनुष्य-शरीर-धारी मानकर अवज्ञा करते हैं।"

ऐसी अवस्थामें, मनुष्योंके बीच अवतीर्ण नराकृति भगवान्‌को पहचान लेना सहज बात नहीं। अलौकिकी शक्तिके द्वारा भी भगवत्स्वरूपका निर्णय नहीं होता ; क्योंकि किसी-किसी जीवतत्त्व साधक महापुरुषमें भी भगवत्कृपासे कुछ-कुछ अलौकिक शक्तिका विकास हो सकता है।

क। जन्मलीलाकी अलौकिकता द्वारा भी भगवान्‌को जाना नहीं जाता—मनुष्यकी तरह पिता-माताके शुक्र-शोणितसे भगवान्‌का जन्म नहीं होता। आनन्द-स्वरूप, ज्योति-स्वरूप भगवान् पहिले पिताके हृदयमें, पीछे पिताके हृदयसे माताके हृदयमें प्रवेश करते हैं। माताके हृदयसे ही वे आविर्भूत होते हैं, गर्भसे नहीं। किन्तु लोग इन बातोंके जानकार नहीं हैं ; इसलिए लोग साधारणतः यही मानते हैं कि माताके गर्भसे ही जन्म होता है। अतएव जन्मलीलाकी इस अलौकिकता द्वारा नराकृति भगवान्‌को जाना नहीं जाता।

श्रीचैतन्यदेवकी जन्मलीलामें भी इस प्रकारकी अलौकिकता थी। श्रीचैतन्यदेवके वयोज्येष्ठ श्रीचैतन्यदेवके आदि-चरितकार श्रीमुरारिगुप्तने भी अपने रचित 'श्रीकृष्ण चैतन्यचरितामृतम्' (साधारणतया 'मुरारि गुप्तका कड़चा' नामसे विख्यात) ग्रन्थमें लिखा है—

"शृणुष्वावहितं ब्रह्मन् चैतन्यस्यावतारकम्।
नवीनं जगदीशस्य करुणाबारिधेर्विभोः॥

गते देवर्षिवर्ये तु स्वाश्रमे भगवान् परः।
जगन्नाथस्य विप्रर्षेर्मनुस्याविशदच्युतः ।।
तेनाहितं महत्तेजो दधार समये सती।
एतस्मिन्नन्तरे साध्वी शची पतिपरायणा ।।
लेभे गर्भं हरेर्वंशं गङ्गेव साम्भवं शुभा।
तस्यास्तेजोऽतिववृधे शुक्लपक्षे यथा शशी ।।
तां दृष्ट्वा रूपसम्पन्नां तप्तचामीकर प्रभाम्।
श्रिया युक्तो जगन्नाथो मुमुदे हृष्टमानसः।।"

श्रीकृष्ण चै. च. १।५।१-५

मुरारि गुप्तकी इस उक्तिका भाव कविराज गोस्वामीने निम्नलिखित पयारोंमें व्यक्त किया है—

चौद्दशत छय शके शेष माघ मासे।
जगन्नाथ-शचीर देहे कृष्णेर प्रकाशे ।।
मिश्र कहे—"शची स्थाने देखि आन रीत।
ज्योतिर्मय देहे गेहे लक्ष्मी अधिष्ठित ।।
जाँहा ताँहा सब लोक करये सम्मान।
घरेते पाठाय्या देन वस्त्र, धन, धान ।।"
शची कहे—"मुञि देखों आकाश ऊपरे।
दिव्यमूर्ति लोक सब जेन स्तुति करे ।।"
जगन्नाथ मिश्र कहे—"स्वप्न जे देखिल।
ज्योतिर्मयधाम मोर हृदये पशिल ।।
आमार हृदय हैते गेला तोमार हृदये।
हेन बुझि जन्मिबेन कोन महाशये ।।"

चै. च. आ. १३।७७-८५

उल्लिखित बात यदि लोगोंको प्रत्यक्ष होती, तब सम्भव है कि वे मान सकते कि शचीनन्दन श्रीचैतन्य मनुष्य जैसे

दिखायी देते हैं, तो भी मनुष्यके जन्मकी तरह उनका जन्म नहीं है ; ऐसी अवस्थामें उनको अन्य मानवों-जैसा मानव कैसे कहा जाय ? किन्तु जन्म-लीलाकी ऐसी अलौकिकता लोगोंके प्रत्यक्षका विषय नहीं है ; लोग तो मानते हैं कि अन्य दस लोगोंका जैसे जन्म होता है, श्रीचैतन्यदेवका भी उसी प्रकार जन्म हुआ है। इस प्रकार देखा जाता है कि जन्म-लीलाकी अलौकिकता द्वारा भी भगवान्‌को जाननेका उपाय नहीं है।

४. ब्रह्माण्डमें अवतीर्ण नरवपु भगवान्‌को जाना जाता है उनके विशेष लक्षणों द्वारा

वर्तमान चतुर्युगीके अन्तर्गत सत्य, त्रेता और द्वापरके उपास्यस्वरूप एवं उपासना-प्रणालीकी बात बताकर श्रीमन्महाप्रभु श्रीचैतन्यदेवने श्रीपाद सनातन गोस्वामीसे वर्तमान कलिके उपास्य और उपासनाके सम्बन्धमें कहा—"कलियुगका धर्म है—कृष्ण-नाम-संकीर्तन। भगवान्‌ने पीतवर्ण धारण कर उसका प्रचार किया। भक्तगणको साथ ले उन्होंने संसारमें प्रेम भक्तिका वितरण किया। व्रजेन्द्रनन्दन इसी प्रकार धर्म प्रवर्तन करते हैं। लोग उनके साथ प्रेमसे नाचते-गाते और संकीर्तन करते हैं (चै. च म. २०।२८४-२८६)।" यह सुनकर श्रीपाद सनातन गोस्वामीने जिज्ञासा की—"मैं अति क्षुद्र नीच, दुराचारी जीव हूँ, कलिके अवतारको कैसे पहचानूँ (चै. च. म. २०।२९१)।" श्रीपाद सनातनके प्रश्नके उतरमें श्रीमन् महाप्रभुने कहा—"जैसे अन्य अवतारोंकी जानकारी शास्त्रके द्वारा होती है, उसी तरह कलिके अवतारकी भी जानकारी शास्त्र-वाक्य द्वारा होती है, सर्वज्ञ मुनिगणके वाक्य भी शास्त्र-प्रमाण जैसे ही होते हैं। हम सब जीवोंको शास्त्रके द्वारा ही ज्ञान होता है। अवतार

नहीं कहा करते कि मैं अवतार हूँ। मुनिगण सब समझ-बूझकर स्वरूप और तटस्थ लक्षणोंसे विचार किया करते हैं। आकृति-प्रकृति तो स्वरूप-लक्षण है, और कार्य द्वारा तटस्थ-लक्षणका ज्ञान होता है (चै. च. म. २०।२९२-२९६)"

इस उक्तिका तात्पर्य यह है। कलियुगके पीतवर्ण अवतार कभी नहीं कहते कि मैं अवतार हूँ। इसका कारण यह है कि वे स्वयं भक्तभावमय हैं, भक्त कभी नहीं कहा करते कि मैं भक्त हूँ। जिनके चित्तमें भक्तिका या प्रेमभक्तिका आविर्भाव होता है, स्वरूपगत धर्मके वशवर्ती होकर वे अपनेको सबकी अपेक्षा हीन माना करते हैं। औरोंकी बात छोड़िये, प्रेमभक्तिकी पूर्णतम भण्डारकी अधिकारिणी स्वयं श्रीराधाने कहा है- "शुद्ध प्रेम-गन्ध तो दूरकी बात है, मुझमें तो कपट-प्रेम भी नहीं है (चै च. म २।४०)।" राधा-कृष्णके मिलित स्वरूप पीतवर्ण स्वयंभगवान्के भक्तभाव-मय होनेके कारण, भक्तरूपका परिचय देना भी जब उनके लिए सम्भव नहीं है, तव वे अपना परिचय भगवान् या भगवान्का अवतार बताकर देवें, यह किस प्रकार सम्भव हो सकता है ? विशेषतः, स्वयंभगवान् होते हैं स्वरूपतः नर-लील, नर-अभिमान ; वे अपनेको भगवान् मानते ही नहीं, नर या मनुष्य, अर्थात् जीव ही मानते हैं। पीतवर्ण स्वयंभगवान्की स्वयंभगवत्ता भी वैसी ही है। अतएव अपनेको भगवान्का अवतार बताकर परिचय देना उनके लिए सम्भव नहीं है। यह तो उनके अज्ञातमें ही उनकी लीला-शक्ति या ऐश्वर्य-शक्तिका कार्य है। तो भी उनका स्वरूपगत नर-अभिमान अक्षुण्ण ही रहता है। इस प्रकार देखा गया कि पीतवर्ण स्वयंभगवान् जब ब्रह्माण्डमें अवतीर्ण होते हैं, तब उनके अपने पाससे उनके वास्तविक स्वरूपका परिचय पाना लोगोंके लिए सम्भव नहीं

है। शास्त्र-कथित उनके लक्षणोंका विचार करके ही अभिज्ञ व्यक्तिगण उन्हें जान सकते हैं। यह भी सबके लिए सम्भव नहीं है, केवल मुनिगण ही भगवान्‌के लक्षणका विचार करनेमें समर्थ हैं। 'मुनि' का अर्थ है "मननशील, भगवद्-विषयमें मननशील; अतएव भक्तिकृपा प्राप्त परम भागवत।" कौनसे भगवत्-स्वरूप, किस वर्णसे, किस समय, किस उद्‌देश्यसे अवतीर्ण होंगे, उनके स्वरूप-लक्षण एवं तटस्थ-लक्षण क्या हैं, ये सब बातें शास्त्रमें बतायी हुई हैं। मुनिगण अपने चित्त-स्थित भक्तिके प्रभावसे शास्त्र-कथित लक्षणादिसे मिलाकर अवतीर्ण भगवत्-स्वरूपका परिचय पाते रहते हैं। श्रीमन् महाप्रभुने श्रीपाद सनातनको श्रीमद्‌भागवतका (१।१।१) 'जन्माद्यस्य यतोऽन्वयात्' इत्यादि श्लोकका उल्लेख करके श्रीकृष्णके स्वरूप-लक्षण एवं तटस्थ-लक्षणका परिचय दिया है—इस श्लोकमें 'पर' शब्दसे श्रीकृष्णका निरूपण है, 'सत्य' शब्दसे उनके स्वरूप-लक्षण कहे हैं; विश्वका सृजन, ब्रह्माको संकल्पसे वेदका पढ़ाना, अर्थाभिज्ञता (सब कार्योंमें निपुणता), स्वरूपशक्ति द्वारा मायाका दूरीकरण—ये उनके तटस्थ-लक्षण बताये हैं; इस प्रकार मुनिगण अन्य अवतारोंका परिचय पाते रहते हैं (चै. च. म. २०।२९८-३००)।

प्रत्येक वस्तुके स्वरूप और तटस्थ लक्षण अन्य वस्तुसे अपनी विशेषता या पृथकता बताते हैं। नर-वपु पीतवर्ण स्वयंभगवान्‌के ये दोनों लक्षण मनुष्यसे उनकी विशेषता या पृथकता बताते हैं। ये दोनों प्रकारके लक्षण उनके विशेष लक्षण हैं। अतएव विशेष लक्षणके द्वारा ही ब्रह्माण्डमें अवतीर्ण पीतवर्ण स्वयंभगवान्‌को योग्य व्यक्ति जान सकते हैं।

पीतवर्ण स्वयंभगवान्‌के जितने लक्षण शास्त्रमें मिलते

हैं, वे लक्षण शची-तनय श्रीचैतन्यदेवमें है या नहीं, अब इसकी विवेचना करनी होगी। वे सब लक्षण यदि श्रीचैतन्यदेवमें दिखायी दें, तभी उनको पीतवर्ण स्वयंभगवान् स्वीकार किया जा सकता है, अन्यथा नहीं। अब देखा जाय कि शास्त्र-कथित लक्षण श्रीचैतन्यदेवमें है या नहीं।

५. श्रीचैतन्यदेवका पीतवर्ण-स्वयंभगवत्ता-विचार

श्रीचैतन्यदेवके अनेक नाम हैं; जैसे निमाई, निमाई पण्डित, गौराङ्ग, विश्वम्भर, गौरहरि, गौरसुन्दर, श्रीकृष्णचैतन्य आदि। श्रीकृष्णचैतन्यका संक्षिप्त रूप ही है 'श्रीचैतन्य'। उनको साधारणतया प्रभु, महाप्रभु इत्यादि कहा जाता है।

क। वर्ण—पीत या गौर—आदि चरितकार श्रीमुरारिगुप्तने अपने कड़चामें अनेक जगह श्रीचैतन्यदेवको स्वर्ण-वर्ण-कान्ति विशिष्ट बताया है। यथा—द्रुतसुवर्णरुचि—गलित-सुवर्ण-कान्ति (२।७।३); सन्तप्त-चामीरकर-रोचिषा रविर्यथा—गलित-काञ्चन-वर्ण (२।८।१८); तप्त-काञ्चन-वपु, (२।१६।७); वरहेम-गौर, (३।१।४) इत्यादि।

कवि कर्णपूर भी अपने महाकाव्यमें इसी प्रकारकी बात बता गये हैं। जैसे—भास्वच्चामीकर-जलमय, (१।२); गौरदेहः (३।५) इत्यादि।

श्रीवृन्दावनदास ठाकुरने अपने श्रीश्रीचैतन्यभागवत् ग्रन्थके मङ्गलाचरणमें श्रीचैतन्यदेवको 'कनकावदात—हेमाङ्ग' बताया है।

श्रीपाद रूप गोस्वामीने अपने विदग्धमाधव नाटकके मङ्गलाचरणमें श्रीशचीनन्दनको पुरटसुन्दरद्युतिकदम्बसन्दीपितः—स्वर्णकी अपेक्षा भी सुन्दर द्युतिपुञ्ज द्वारा सन्दीपित कहा है।

श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामीने अपने श्रीश्रीचैतन्य-चरितामृत ग्रन्थमें लिखा है—तप्तहेम समकान्ति (आ. ३।३२)।

इसके अतिरिक्त और भी सैकड़ों उक्तियाँ विभिन्न ग्रन्थोंमें मिलती है।

इन सब उक्तियोंसे जाना जाता है कि श्रीचैतन्यदेवका देह था स्वर्णवर्ण। महाभारत-कथित 'हेमाङ्ग' शब्द एवं मुण्डकोपनिषद-कथित 'रुक्मवर्ण' शब्द भी पीतवर्ण स्वयंभगवान्‌को स्वर्णवर्ण ही बताते हैं। स्वर्णका वर्ण ही है पीतवर्ण; इसलिए श्रीमद्‌भागवतने इसी 'रुक्मवर्ण' एवं 'हेमाङ्ग' स्वरूपको 'पीतवर्ण' कहा है। श्रीचैतन्यदेवका वर्ण भी उसी प्रकारका था—पीतवर्ण, स्वर्णवर्ण। पीत या स्वर्णवर्ण ही गौर वर्ण है। इसलिए चैतन्यदेवको 'गौर', 'गौराङ्ग,' 'गौरसुन्दर' इत्यादि कहा जाता है।

इस प्रकार देखा गया कि वर्ण-विषयमें श्रुति-स्मृति-कथित रुक्मवर्ण या पीतवर्ण, अथवा हेमाङ्ग स्वयंभगवान्‌के साथ श्रीचैतन्यदेवकी समता विद्यमान है।

अब श्रीचैतन्यदेवका दैहिक वैशिष्ट्य आलोचित होता है।

ख। दैहिक लक्षण

(१) न्यग्रोध-परिमण्डल तनु—मनुष्यकी तरह द्विभुज शरीरसे ब्रह्माण्डमें श्रीभगवान्‌के अवतीर्ण होनेपर भी कई शारीरिक लक्षणोंमें साधारण मनुष्यकी अपेक्षा उनकी विशेषता रहती है। श्रीचैतन्यदेवमें भी यह वैशिष्ट्य है। मनुष्यके शरीरकी दीर्घता (ऊँचाई) मस्तकसे पदतल तक, अपने हाथसे साढ़े तीन हाथ या सात बित्ता होती

है ; विस्तारमें भी दोनों हाथ फैलानेसे एक हाथकी मध्यमा अंगुलीके अग्र भागसे दूसरे हाथकी मध्यमा अंगुलीके अग्रभाग तक साढ़े तीन हाथ या सात बित्ता होता है। वर्तमान कल्पके ब्रह्मा हैं जीवतत्व ; वे भी अपने हाथसे साढ़े तीन हाथ या सात बित्ता हैं। श्रीमद्भागवतकी ब्रह्मस्तुतिमें उनकी अपनी ही उक्ति से यह जाना जाता है। उन्होंने कहा है कि वे 'सप्तवितस्तिकायः' (१०।१४।११) हैं। प्राकृतिक जगतमें कोई-कोई व्यक्ति चार हाथ (६ फीट) लम्बे भी देखनेमें आते हैं ; किन्तु प्रमाणके नापसे चार हाथ होनेपर भी, अपने हाथसे साढ़े तीन हाथ ही होते हैं।

भगवत्स्वरूप किन्तु इस प्रकार नहीं होते। श्रीमद्भागवत १०।१४।११ की वैष्णवतोषिणी टीकामें कहा गया है कि भगवान्‌का विग्रह अपने हाथसे साढ़े चार हाथ होता है। कहीं-कहीं चार हाथकी बात भी मिलती है। श्रीहरिभक्ति-विलासके १८ वें विलासमें अर्चा-विग्रहके प्रमाण आदिके सम्बन्धमें जो शास्त्र-प्रमाण उद्धृत हुए हैं, उनसे भी भगवद्-विग्रहके उल्लिखित प्रमाणकी बात ही जानी जाती है। इस प्रकार जाना गया कि जो भगवद्-स्वरूप ब्रह्माण्डमें मनुष्योंके बीच अवतीर्ण होते हैं, मनुष्यकी तरह द्विभुज होनेपर भी उनका शरीर, मनुष्यके शरीरकी तरह, अपने हाथसे साढ़े तीन हाथ नहीं होता, या तो चार हाथ होता है या साढ़े चार हाथ।

श्रीमन्महाप्रभु श्रीचैतन्यदेवका शरीर भी उनके अपने हाथसे चार हाथका था। इस प्रकारका शरीर जिनका होता है, उनको **'न्यग्रोधपरिमण्डल-तनु'** कहा जाता है (चै. च. आ. ३।३३,३४)*

पुरीमें श्रीमन्महाप्रभु श्रीचैतन्यदेवके जो पदचिह्न

* टिप्पणी ग्रन्थके अन्तमें देखिये।

आज भी विद्यमान है, उनकी दीर्घतासे ही उनके देहकी असाधारण दीर्घताका अनुमान हो सकता है।*

---

*श्रीजगन्नाथ मन्दिर (पुरी) में श्रीमन्महाप्रभुके चरण-चिह्न एक अलग छोटेसे मन्दिरमें विराजित हैं। ये चरण-चिह्न कैसे प्राप्त हुए, इसका विवरण इस ग्रन्थके अन्तमें दिया है।

इन चरण-चिह्नोंके अनुसार ऐसा प्रतीत होता है कि श्रीमन्महाप्रभुके चरण-तलकी लम्बाई १३½ इंच लगभग थी। साधारण मनुष्यके पदतलकी औसतन लम्बाई लगभग १०½ इंच होती है, हाथकी लम्बाई १८ इंच और शरीरकी लम्बाई ६३ इंच। कोई नाटे होते हैं और कोई अधिक लम्बे। लेकिन अपने हाथसे प्रायः सभी ३½ हाथकी लम्बाईके होते हैं। औसतन पदतलकी लम्बाई १०½ इंच और शरीरकी ६३ इंच मानकर १३½ इंच महाप्रभुके चरणोंके अनुसार उनके शरीरकी ऊँचाई होनी चाहिये लगभग—

$$\frac{६३ \times १३{\cdot}५}{१०{\cdot}५} = ८१ \text{ इंच}$$

अर्थात् वे साधारण मानवसे ८१—६३=१८ इंच अधिक ऊँचे होने चाहिये।

साधारण मानवके पदतल १०½ इंच लम्बे हों और उसके हाथ १८ इंच तो श्रीमन्महाप्रभुके १३½ इंच चरण-तलके हिसाबसे उनके हाथोंकी लम्बाई होनी चाहिये—

$$\frac{१८ \times १३{\cdot}५}{१०{\cdot}५} = २३ \text{ इंच लगभग}$$

अपने हाथसे ३½ हाथ लम्बाईके हिसाबसे महाप्रभुका विग्रह होगा—

$$२३ \times ३{\cdot}५ = ८०{\cdot}५ \text{ इंच}$$

(टिप्पणीका शेष अगले पृष्ठ पर)

बहुतसे लोगोंके बीच उनके दण्डायमान रहनेपर सबके मस्तकके ऊपरसे भी महाप्रभुके देहका ऊर्ध्वभाग एक हाथसे भी कुछ अधिक ऊँचा दिखायी दिया करता। श्रीवृन्दावनदास-ठाकुरने अपने श्रीचैतन्य भागवत्‌में इसी प्रकारकी बात लिखी है। नवद्वीपमें महाप्रभुके नाम संकीर्तनके वर्णनके प्रसंगमें उन्होंने लिखा है कि असंख्य लोगोंने संकीर्तनमें योगदान किया ; प्रभुका कलेवर उन सबसे सुदीर्घ था और लोग सब इतना सटके खड़े थे कि उनके ऊपरसे सरसों फेंक दी जाती तो भी भूमिपर दाने नहीं गिरते ; तथापि सभी प्रभुका मुख देख सकते।

"चतुर्दिके आपन-विग्रह-भक्तगण।
बाहिर हइला प्रभु श्रीशचीनन्दन॥
उन्नत नासिका, सिंहग्रीव मनोहर।
सभा हइते सुपीन सुदीर्घ कलेवर॥
एतेक लोकेर जे हइल समुच्चय।
सरिषा पड़िलेओ तल नाहि हय॥

(पिछले पृष्ठकी टिप्पणीका शेष)

अर्थात् साधारण मानवसे वे १७½ या १८ इंच ऊँचे होने चाहिये। और अपने हाथसे ४ हाथ लम्बा शरीर हो तो उनके विग्रहकी ऊँचाई होगी—

२३ इंच लम्बी भुजा × ४ = ९२ इंच

अर्थात् साधारण मानवसे ९२ — ६३ = २९ इंच ऊँचे।

इससे स्पष्ट है कि प्रत्येक स्थितिमें उनके शरीरका ऊर्ध्व भाग इतना ऊँचा था कि वे भीड़के मध्य खड़े होते थे तो भी दूर-से-दूर खड़े व्यक्तिको उनके दर्शन सरलतासे होते थे।

तथादिओ हेन कृपा हइल तखन।
सभेइ देखेन सुखे प्रभुर वदन॥"
चै. भा. म. २३।१७०, १८३, १८५, १८६

लगता है कि इसीलिए कहा गया है 'प्रकाण्ड शरीर'।

"तप्तहेमसम कान्ति प्रकाण्ड शरीर॥ चै. च. आ. ३।३२"
गोदावरीके तीरपर राय रामानन्दने जब सर्वप्रथम प्रभुका दर्शन पाया था, तब उन्होंने देखा था—

"सुवलित प्रकण्ड देह—कमल लोचन॥
देखिया ताँहार मने हइल चमत्कार।
आसिया करिल दण्डवत् नमस्कार॥"
चै. च. म. ८।१६,१७

विभिन्न ग्रन्थोंमें बहुतसे स्थानोंपर श्रीचैतन्यदेवके 'प्रकाण्ड-शरीर' का उल्लेख पाया जाता है।

(२) महापुरुष-लक्षण—'चारि हस्त हय महापुरुष विख्याते॥ चै. च. आ. ३।३३' इस उद्धृत पयार छन्दमें 'महापुरुष' शब्द पुरुषोत्तम भगवान्को बताता है। श्रीमद्भागवतके १०।४०।४ श्लोककी अक्रूरकी 'महापुरुषमीश्वम्' उक्तिमें श्रीकृष्णको महापुरुष कहा गया है। भा. ११।५।३३ 'ध्येयं सदा परिभवघ्नम्' इत्यादि श्लोकमें भी एवं अन्य स्थानोंपर भी भगवान्को 'महापुरुष' कहा गया है।

सामुद्रिक ग्रन्थमें महापुरुषके लक्षण इस प्रकार बताये गये हैं—

पञ्चदीर्घः, पञ्चसूक्ष्मः, सप्तरक्तः, षडुन्नतः।
त्रिह्रस्वः पृथुगम्भीरो द्वात्रिंसल्लक्षणो महान्॥
चै. च. आ. १४।३ श्लोकधृत सामुद्रिक प्रमाण

महापुरुषके बत्तीस लक्षण होते हैं, जैसे—नासिका, भुजा, हनु, नेत्र एवं जानु—ये पाँच अंग दीर्घ ; त्वक्, केश, अंगुलीपर्व, दन्त एवं रोम—ये पाँच सूक्ष्म ; नेत्रप्रान्त, पदतल, तालु, औष्ठ-अधर, जिह्वा एवं नख—ये सात स्थल रक्तवर्ण ; वक्षःस्थल, स्कन्ध, नख, नासिका, कटि प्रदेश एवं मुख—ये छः अंग उन्नत ; ग्रीवा, जंघा, एवं मेहन—ये तीन अंग ह्रस्व ; कटि प्रदेश, ललाट एवं वक्षःस्थल—ये तीन अंग विस्तीर्ण ; एवं नाभि, स्वर और बुद्धि—ये तीन गम्भीर।

श्रीचैतन्यदेवके मातामह श्रीनीलाम्बर चक्रवर्तीने कहा है--

"बत्रिश लक्षण महापुरुष-भूषण।
एइ शिशु-अङ्गे देखि से सब लक्षण॥"

चै. च. आ. १४।१२

(३) **कर-चरण-चिह्न**—कर-चरणके चिह्नादिमें भी मनुष्यकी अपेक्षा भगवत्स्वरूपका वैशिष्ठ्य रहता है। महाप्रभु श्रीचैतन्यदेवकी भी यह विशेषता थी।

श्रीचैतन्यदेवके शैशवकी एक कथा है। वे उस समय छोटे शिशु थे, चल-फिर नहीं सकते थे, बोल भी नहीं सकते थे। माता बिछौनेमें सुला देती तो चित होकर उत्तान सोये रहते, इधर-उधर करवट नहीं ले सकते थे। एक दिन शचीमाताने उनको बिछौनेपर चित करके सुला रक्खा था ; वे निद्रित थे। ऐसी अवस्थामें शचीमाता और जगन्नाथ मिश्रने शयन-गृहमें छोटे-छोटे पद-चिह्न देखे ; उन पद-चिह्नोंमें ध्वज, वज्र, शंख, चक्र और मीन देखकर दोनोंको बड़ा आश्चर्य हुआ; उनकी समझमें नहीं आ रहा था कि ये किसके चिह्न हैं ;

मिश्रजीने अनुमान किया कि शालग्राम-शिलारूपी बालगोपाल हैं, सम्भव है वे ही मूर्ति धारण कर घरमें खेलें हैं, उन्हींके पद-चिह्न अंकित हुए हैं, और उन्होंने यह बात शची माताको भी बतायी ; उसी समय शिशु श्रीचैतन्यदेव जाग पड़े और रोने लगे ; शचीमाता दौड़कर, उन्हें गोदमें लेकर, बैठकर स्तन-दान कराने लगी ; उसी समय उनकी दृष्टि शिशुके चरणतलकी तरफ गयीं, उन्होंने देखा कि शिशुके पद-तलमें ध्वज-व्रजादि चिह्न विद्यमान है ; उन्हें बहुत आश्चर्य हुआ और उन्होंने उसी समय मिश्रजीको बुलाकर दिखाया ; उन्हें भी बड़ा आनन्द हुआ और उन्होंने शिशुके मातामह श्रीनीलाम्बर चक्रवर्तीको बुलाया ; चिह्न देखकर चक्रवर्तीजीने हँसकर कहा कि लग्न गिनकर मैंने पहिलेसे ही लिख रक्खा है कि जो बत्तीस लक्षण महापुरुषके भूषण है, वे सब इस शिशुके शरीरमें है, नारायणके चिह्नयुक्त श्रीहस्त-चरण है, यह शिशु सब लोगोंका उद्धार करेगा, वैष्णव-धर्मका प्रचार करेगा, इससे दोनों कुलोंका उद्धार होगा, सब ब्राह्मणोंको बुलाकर महोत्सव मनाओ, आज शुभ दिन है, नामकरण भी करूँगा, यह सब लोगोंका धारण-पोषण करेगा, इसलिए इसका एक नाम होगा विश्वम्भर। (चै. च. आ. १४।४-१६) ॥"

नारायणके चिह्नयुक्त श्रीहस्त-चरण किसी भी मनुष्यके नहीं होते।

(४) कैशोर। गुल्फ-श्मश्रु-हीनता—परब्रह्मके सम्बन्धमें छान्दोग्य उपनिषदने बताया है—

"**एष आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको** विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः ॥८।१।५॥"

"**य आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको**

विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः ॥८।७।१॥"

उल्लिखित छान्दोग्य वाक्यसे जाना गया कि परब्रह्म श्रीभगवान् होते हैं विजरः—जरावर्जित, वार्धक्यवर्जित। अन्यान्य श्रुति भी परब्रह्मको 'अजरम्—जराहीन' बताती हैं, यथा बृहदारण्यक ४।४।२५, प्रश्नोपनिषद ५।७ श्वेताश्वतर ३।२१, गोपालोत्तरतापनी १७॥

इस प्रकार श्रुतिसे भी जाना गया कि परब्रह्मको वार्धक्य नहीं होता। तब क्या प्रौढत्व होता है ? नहीं, वह भी नहीं, वे तो नित्य किशोर हैं। गोपाल-पूर्व-तापनी श्रुतिने बताया है कि स्वयंभगवान् श्रीकृष्ण नित्य-तरुण हैं—गोपवेशमभ्रामं तरुणं कल्पद्रुमाश्रितम् ॥१।२॥

श्रीश्रीचैतन्यचरितामृतसे भी जाना जाता है कि श्रीकृष्ण स्वरूपतः किशोर है। चै. च. आ. २।८२॥

श्रीकृष्ण जब भी ब्रह्माण्डमें अवतीर्ण होते हैं, तब वे कोई नया देह धारण करके अवतीर्ण नहीं होते ; अपने अनादि सिद्ध देहसे वे अवतीर्ण हुआ करते हैं।

अब प्रश्न हो सकता है कि श्रीकृष्णका अनादि-सिद्ध देह तो नित्य-किशोर है। ब्रह्माण्डमें अनादि-सिद्ध देहसे ही वे अवतीर्ण होते हैं, तब ब्रह्माण्डमें अवतीर्ण देह भी नित्यकिशोर होगा। किन्तु प्रकट-लीलामें उनका बाल्य, पौगण्ड क्यों दिखायी देता है ? वे शिशु रूपसे अवतीर्ण होते हैं ; क्रमशः वय वृद्धिके साथ-साथ पाँचवें वर्ष तक बाल्य, उसके बाद दशवें वर्षतक पौगण्ड और उसके बाद कैशोर देखनेमें आता है। इसका क्या समाधान है ?

इस सम्बन्धमें निवेदन इस प्रकार है। अप्रकट लीलामें श्रीकृष्ण नित्य-किशोर होनेके कारण वहाँ न बाल्य है, न पौगण्ड; अतएव वाल्य और पौगण्डकी रसवैचित्री-विषयका आस्वादन अप्रकटमें उनके लिए सम्भव नहीं। बाल्यमें वात्सल्य-रसकी वैचित्री-विशेष एवं पौगण्डमें सख्यादि रसकी वैचित्री-विशेषका आस्वादन अप्रकटमें हो नहीं सकता। अत: इन सब रस-वैचित्रीका आस्वादन न करनेसे उनका रस-स्वरूपत्व अपूर्ण ही रह जाता है। इन सब रस-वैचित्रीके आस्वादनके उद्देश्यसे प्रकटलीलामें वे अपने विग्रहके धर्मरूपसे बाल्य और पौगण्डको अंगीकार करते हैं। जन्मलीलाके कारण उनका बाल्य और पौगण्डका अंगीकार करना सम्भव होता है। राय समानन्दके प्रति श्रीमन्महाप्रभुकी उक्ति—

"बाल्य पौगण्ड हय विग्रहेर धर्म॥ चै. च. म. २०।२१५
किशोर शेखर धर्मी व्रजेन्द्रनन्दन॥ चै. च. म. २०।३१३॥"

धर्मी किशोर एवात्र नित्यलीलाविलासवान्॥

भ. र. सि. २।१।६३

मनुष्यकी तरह श्रीकृष्णके विग्रहके धर्ममें भी बाल्य आता है और चला जाता है, उसके पश्चात पौगण्ड आता और चला जाता है, तब आता है कैशोर। मनुष्यके देहसे कैशोर चला जाता है, तब आते हैं यौवन-प्रौढत्व-वार्धक्यादि। किन्तु प्रकटलीलामें श्रीकृष्णके बाल्प-पौगण्डके पश्चात् जो कैशोर आता है, वह कैशोर ही उनकी नित्य स्थिति है। श्रीमन्महाप्रभु-की उक्ति रामानन्दके प्रति—

"क्रमे बाल्य-पौगण्ड-कैशोरता प्राप्ति।
रास आदि लीला करे कैशोरे नित्य स्थिति॥

चै. च. म. २०।३१८

गत द्वापरमें ब्रह्माण्डमें अवतीर्ण होकर श्रीकृष्ण सवा-सौ वर्ष प्रकट रहे ; सवा-सौ वर्षकी आयुमें भी वे कैशोरोचित तारुण्य-लावण्य-मण्डित रहे । बृहद्भागवतमृतसे जाना जाता है कि उनके कभी भी गुल्फ श्मश्रुका उद्गम नहीं हुआ ।

"वयश्च तच्छैशव-शोभयाश्रितं
सदा तथा यौवनलीलयाहृतम् ।
मनोज्ञकैशोरदशावलम्बितं
प्रतिक्षणं नूतन-नूतनं गुणैः ॥
बृहद्भागवतामृतम् २।५।११२॥"

इसकी टीकामें श्रीपाद सनातन गोस्वामीने लिखा है— **"वयश्चेति । तत् श्रीकृष्ण-सम्बन्धि परमाश्चर्यमिति वा, सदा शैशवशोभया परम-सौकुमार्य-चापल्य-श्मश्रवनुद्गमादि-रूपया बाल्यलक्ष्म्या आश्रितम्, तथा सदा यौवनलीलया विविधवैदग्ध्यादि रूपया तदुद्भेदकभंग्या वा आहृतं च ; अतएव मनोज्ञया जगच्चित्तहारिण्या कैशोरदशया पंचदश-वर्ष-वर्त्यवस्थया अवलम्बितम् ; अतएव गुणैः कान्त्यादिभिः प्रतिक्षणं नूतनादपि नूतनम्, कदाचिदपि परिणामाप्राप्तेः द्रष्टॄणामतृप्ति-करत्वाच्च, तथाविधाश्चर्यकरत्वादपि इति दिक् ।"**

इस टीकाके अनुसार उल्लिखित 'वयश्च' इत्यादि श्लोकका तात्पय इस प्रकार है—"श्रीकृष्णकी वयस सवदा ही परमाश्चर्य-शैशव-शोभा-विशिष्ट है, अर्थात् परम-सौकुमार्य, चापल्य, श्मश्रुका अनुद्गमादि रूप बाल्यश्री द्वारा आश्रित है। उसी प्रकार विविध वैदग्ध्यादि रूप यौवन-लीला द्वारा आहृत है । इसलिए मनोज्ञा या जगद्चित्त-हारिणी पंचदश-वर्ष-वर्तिनी कैशोर दशा द्वारा अवलम्बित है । अतएव कान्त्यादि गुणसे

प्रतिक्षण ही नयेसे भी नये रूपसे प्रतिभात है, कोई भी गुण कभी भी परिणामको प्राप्त नहीं होता। इसलिए जो कोई भी उनका दर्शन करते हैं, उनकी दर्शन-कांक्षा कभी भी परितृप्त नहीं होती ; ऐसा आश्चर्यजनक है श्रीकृष्णका वयस।"

बृहद्भागवतामृतके श्रीकृष्ण-वन्दनात्मक—

"जयति निजपदाब्ज-प्रेमदावतीर्णो
विविधमधुरिमाब्धि कोऽपि कैशोरगन्धिः।"

सर्व प्रथम श्लोकके अन्तर्गत 'कैशोरगन्धि' शब्दकी टीकामें भी श्रीपाद सनातनने लिखा है—"तत्र रूपमधुरिमाणमाह—कैशोरेति, कैशोरस्य गन्धः सतत-सम्पर्क-विशेषो यस्मिन् सः—बाल्येऽपि तारुण्येऽपि परम-महासुन्दर-कैशोर-शोभानपगमात् सर्वदेव कैशोरभूषित इत्यर्थः। अतएव श्रीमद्भागवते (३।२८।१७) श्रीकपिलदेवनापि स्वमातरं प्रत्युपदिष्टम् ;—'सन्तं बयसि कैशोरे भृत्यऽनुग्रहकातरम्' इति—यहाँपर 'कैशोरगन्धिः' शब्दसे (श्रीकृष्णकी) रूपमधुरिमाकी बात कही गयी है। उनमें कैशोरकी गन्ध—सम्पर्क विशेष—सतत विद्यमान है ; बाल्यमें भी एवं तारुण्यमें भी परम-महासुन्दर कैशोर शोभा उनको त्याग नहीं करती। अतः वे सर्वदा ही कैशोर-शोभा द्वारा विभूषित हैं। इसलिए श्रीमद्-भागवतमें देखा जाता है कि श्रीकपिलदेवने अपनी माता देवहूतिसे कहा है—'भृत्यानुग्रहकातर भगवान् सर्वदा कैशोरमें अवस्थित हैं'।"

इन सब उक्तियोंसे जाना गया कि अप्रकट-धामके नित्यकिशोर श्रीकृष्ण जब ब्रह्माण्डमें अवतीर्ण होते है, तब लीलारस-वैचित्री-विशेषके आस्वादनके लिए अंगीकृत बाल्य

और पौगण्डके पश्चात् सर्वदा ही वे पञ्चदश-वर्ष-वर्तिनी कैशोरदशामें अवस्थित रहते हैं, सर्वदा ही वे परम-सौकुमार्य, शैशवोचित चापल्य एवं बाल्यश्री द्वारा आश्रित रहते हैं; उनमें कभी भी श्मश्रु-गुल्फ आदिका उद्‌गम नहीं होता।

केवल स्वयंभगवान् ही नहीं, नारायण आदि जितने भी भगवत्-स्वरूप रूपसे अनादि कालसे आत्म-प्रकट करके विराजित हैं, वे भी नित्यकिशोर हैं, उनमें भी श्मश्रु-गुल्फ आदिका उद्‌गम नहीं होता। पूर्वोधृत छान्दोग्य-श्रुति-वाक्यके 'विजरः' शब्दका तात्पर्य भी वही है।

श्रीमन्महाप्रभु चैतन्यदेवके भी गुल्फ-श्मश्रुका उल्लेख कहीं भी देखनेमें नहीं आता। नाना स्थलोंमें उनके जितने भी विग्रह बहुत कालसे पूजित होते आ रहे हैं, उनमें-से किसीके भी गुल्फ-श्मश्रु देखनेमें नहीं आते। उनकी चौबीस वर्षकी आयुमें साक्षात्-भावसे उनको देख-देखकर जो विग्रह प्रस्तुत किये गये थे, जो आज भी कालनामें सेवित हो रहे हैं, उन विग्रहोंके भी गुल्फ-श्मश्रु नहीं है। प्राचीन पदोंमें एवं स्तोत्रोंमें भी श्रीचैतन्य-देवको 'किशोर' बताया गया है। यथा 'गौरकिशोर, प्रेमे गर-गर', 'नवकिशोर गा-खानि ताँर', "श्रीमन्नवद्वीपकिशोरचन्द्र, हा श्रीविश्वम्भर नागरेन्द्र। हा श्रीशचिनन्दन चित्तचोर प्रसीद हे विष्णुप्रियेश गौर॥"—इत्यादि। कवि कर्णपूरने भी अपने महाकाव्यमें यही बात कही है, जैसे—'नवद्वीप-किशोर चन्द्रिमाः (३।८९)', 'गौरकिशोर-सुधाकरः (४।५६ ' इत्यादि।

(५) अपहतपाप्मत्व, नीरोगता—पृष्ठ १४५-१४६ पर पूर्ववर्ती (४) अनुच्छेदमें उद्धृत छान्दोग्यश्रुति वाक्य (८।१।५, ८।७।१) से परब्रह्म स्वयंभगवान्‌के एक लक्षणकी बात कही

गयी है कि अपहतपाप्मा—पापशून्य हैं। उनमें कोई भी पाप नहीं है, कोई पाप उनका स्पर्श भी नहीं कर सकता ; अतएव पाप-जात कोई भी रोग-व्याधि उनको नहीं हो सकती। श्रुतिने स्पष्ट भावसे उनको अनामय निरोग बताया है—

"ततो यदुत्तरतरं तदरूपमनामयम्।
य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवापिवन्ति ॥
श्वेताश्वतर श्रुति ।३।१०॥"

पापके फलसे ही रोग होते हैं ; जिनके कोई भी पाप नहीं है, पाप जिनको स्पर्श भी नहीं कर सकते, उनको रोग-व्याधि किस प्रकार हो सकते हैं ?

स्वयंभगवान् श्रीकृष्णके प्रकटकालकी बहुत-सी लीला पुराण-इतिहासमें वर्णित है ; किन्तु कहीं भी उनको व्याधिकी बात देखनेमें नहीं आयी। यदि उनको कभी कोई भी रोग होता तो उसका उल्लेख भी रहता।

श्रीचैतन्यदेवको किसी भी समय कोई रोग हुआ हो, इस बातको किसी भी ग्रन्थमें नहीं बताया गया।

गया-गमनके मार्गमें ज्वर—अवश्य ही श्री वृन्दावन ठाकुरने अपने श्रीश्रीचैतन्यभगवात ग्रन्थके आदि खण्डके द्वादश अध्यायमें लिखा है—महाप्रभु श्रीचैतन्यदेव जब गया जा रहे थे तब रास्तेमें एक जगह उनके देहमें ज्वरका प्रकाश हुआ था। उनके संगियोंने प्रतिकारके लिए अनेक चेष्टाएँ की, किन्तु कुछ भी नहीं हुआ। तब उन्होंने स्वयं ही बता दिया—"सर्व दुःख खण्डे विप्रपादोदक पाने।" विप्र-पादोदक लाकर दिया गया, उन्होंने उसका पान किया एवं पान करते ही तुरन्त ज्वरने

छोड़ दिया। पूरा वर्णन इस प्रकार है—"कुछ मार्ग तय करते-करते एक दिन श्रीमन्महाप्रभुके देहमें ज्वरका प्रकाश हुआ। प्राकृत लोगोंकी तरह वैकुण्ठके ईश्वरने लोक-शिक्षाके लिए ज्वरको धारण किया। उनके विद्यार्थियोंने चिन्तित होकर अनेक प्रतिकार किये, लेकिन ज्वरने नहीं छोड़ा। उनकी स्वयंकी ऐसी ही इच्छा थी। तब प्रभुने स्वयं ही औषध-व्यवस्था बतायी कि विप्र-पादोदकके पानसे सब दुःख नाश हो जाते हैं। विप्र-पादोदककी महिमा बतानेके लिए प्रभुने स्वयं सबके साक्षात्में उसका पान किया और उसी क्षण वे स्वस्थ हो गये, ज्वर नहीं रहा॥ चै. भा. आ. १२।२०-२२

आदि चरितकार श्रीमुरारि गुप्तने अपने 'श्रीकृष्णचैतन्य-चरितामृतम्' नामक ग्रंथमें इस ज्वरका प्रसंग वर्णन किया है। उन्होंने लिखा है कि महाप्रभु गया जाते समय 'चोरान्धयक' नामक ह्रदमें यथा विधि पितृ-तर्पण आदि कर अपने प्रिय विद्यार्थियोंके साथ मन्दार पर्वत पर गये ; इसके पश्चात्—

"ततोऽवतीर्यविजगाम सत्वरं धराधराधो भवनं द्विजस्य सः।
मनुष्य-शिक्षामनुदर्शयन् प्रभुज्ज्वरेण सन्तप्ततनुर्बभूव॥
बभूव मे वर्त्मनि दैवयोगाच्छरीरवैवश्यमनः कथं स्यात्।
गयासु मे पैतृककर्म विघ्नः श्रेयस्यभूदित्यतिचिन्तयाकुलः॥
ततोऽप्युपायं परिचिन्तयन् स्वयं ज्वरस्य शान्त्यै द्विजपादसेवनम्।
वरं स विज्ञाय तथोपपादयन् तदम्बुपानं भगवांश्चकार॥
ये सर्वविप्रा मधुसूदनाश्रयाः निरन्तरं कृष्णपदाभिचिन्तकाः।
ततः स्वयं कृष्णजनाभिमानी तेषां परं पादजलं पपौ प्रभुः॥
ततो ज्वरस्योपशमो बभूव तान् दर्शयित्वा द्विजपादभक्तिम्।
जगाम तीर्थं स पुनःपुनाख्यं चकार तत्र द्विजदेवतार्चनम्॥
श्रीकृष्ण चै. च. १।१५।६-१३

इसके पश्चात् शीघ्र ही मन्दार पर्वतसे उतरकर पर्वतके तल-प्रान्तमें किसी ब्राह्मणके घर ठहरे। लोक-शिक्षाके लिए वे ज्वरसे सन्तप्त हो गये और कहने लगे—"अहो! मार्गमें ही दैवयोगसे मेरा शरीर अवश हो गया, अतः गयामें पितृ-कर्म कैसे पूर्ण होगा? मङ्गल-कार्यमें विघ्न उपस्थित हो गया।" इस चिताने प्रभुको व्याकुल कर दिया। इसके बाद स्वयंने ही सोचकर निश्चित किया कि ज्वरकी शान्तिके लिए द्विज-पद-सेवा ही उपाय है। तब उन्होंने द्विज-पाद-सेवा कर द्विज-चरण-जलका पान किया। मधुसूदनके आश्रयवाले वे सब विप्रगण निरन्तर श्रीकृष्ण-चरण ही चिन्तन करते हैं, कृष्ण-भक्ताभिमानी प्रभुने उनका चरण-जल ही पान किया था। उसीसे उनका ज्वर शान्त हो गया। साथियोंको द्विज-चरणोंकी भक्ति दिखाकर, वे पुन-पुना-नामक तीर्थ गये, वहाँ द्विज-देवताका अर्चन किया।"

कवि कर्णपूरने भी अपने 'श्रीचैतन्यचरितामृतम् महाकाव्य' नामक ग्रन्थके अनुच्छेद ४।५०-५४ में उल्लिखित ज्वरका विवरण दिया हैं।

उल्लिखित विवरणसे स्पष्ट रूपसे समझा जाता है कि श्रीचैतन्यदेवका यह ज्वर साधारण लोगोंके ज्वर जैसा नहीं था। कृष्णाश्रय एवं निरन्तर कृष्ण-चिन्ता परायण ब्राह्मणोंके चरण-जलका माहात्म्य जगतमें प्रचार करनेके लिए ही उनकी यह लीला थी। वस्तुतः उनको कोई रोग नहीं था।

गयासे लौटनेके पश्चात प्रेमविकार—गयासे लौटनेके बाद प्रभुके देहमें कृष्ण-प्रेमका अद्भुत विकार प्रकट हुआ। वे प्रेमावेशमें कभी क्रन्दन करते, कभी हँसते, कभी

चित्कार करते, कभी दौड़ा-दौड़ी-छटपट करते और कभी घन-घन हुँकार करते। कृष्ण-प्रेमके प्रभावसे जो अवगत नहीं थे उन्होंने समझा कि निमाई पण्डितको वायुरोग हो गया है। एक दिन दो दिन नहीं; दीर्घकाल तक यह दशा बनी रही। कभी-कभी कुछ कालके लिए स्वाभाविक अवस्था होती, फिर प्रेमावेशमें उन्मत्त-से हो जाते। शेषमें प्रभुकी ऐसी अवस्था हो गयी कि वात्सल्यमयी शचीमाता इससे अत्यन्त चिन्तित हो गयी ओर सबसे कहने लगी—"विधाताने मेरे स्वामीको ले लिया, पुत्रोंको ले लिया, अब केवल एक बचा है, उसकी भी कैसी अवस्था हो गयी—समझमें नहीं आता; कभी हँसता है, कभी रोता है, कभी मूर्च्छित हो जाता है, मन-मनमें कुछ बोलता रहता है; कभी कहता है कि पाखण्डीका सिर फोड़ दो, कभी पेड़की डालपर चढ़ जाता है, आँख नहीं मिलाता, पृथिवीपर गिर पड़ता है, दाँत कड़मड़ करने लगते हैं, धूलमें लौटने लगता है।" लोग श्रीकृष्णप्रेमके विकारको नहीं समझकर, सलाह देते हैं कि इनको वायु-विकार है, बाँधकर रखना चाहिये। (चै भा. मध्य. २।८८-९६)।

वायुरोगकी चिकित्साके लिए अनेक लोग शचीमाताको उपदेश देने लगे। माता अत्यन्त चिन्तित हो उठी। एक दिन श्रीवास पण्डित प्रभुको देखने आये। प्रभुने उठकर सावधान होकर उनको नमस्कार किया। भक्तको देख प्रभुको भी भक्तभाव उमड़ आया। लोमहर्ष, अश्रुपात, कम्प, अनुराग प्रकट होने लगे। तुलसी-परिक्रमा करते समय भक्तको देखकर प्रभु मूर्च्छित हो गये, कुछ बाह्य अवस्था होते ही क्रन्दन करने लगे। महाकम्पके कारण प्रभु स्थिर नहीं हो पा रहे थे। ऐसी अद्भुत अवस्था देख श्रीवास पण्डितने मनमें विचार किया कि यह तो

महाभक्ति योग है, इसको वायु कौन कहता है। बाह्य अवस्था होनेपर प्रभने पण्डित श्रीवासको कहा- "मुझे कोई वायुरोग बताता है, बाँधककर रखनेकी सलाह देता है, आप क्या समझते हैं ?" पण्डित श्रीवासने हँसकर उत्तर दिया— "तुम्हारा जैसा वायुरोग तो मैं भी चाहता हूँ, तुम्हारे शरीरमें तो महाभक्तियोग दिखायी देता है, श्रीकृष्णका अनुग्रह तुमपर हुआ है।" श्रीवास पण्डितके मुखसे यह बात सुन प्रभुने महासुख पूर्वक उनका आलिंगन किया और उनसे कहा—"सब लोग तो मुझे वायुरोग बताते थे, आज आपने मुझे कृतकृत्य कर दिया, यदि आप भी वायुरोग बताते तो मैं आज ही गङ्गामें प्रवेश कर जाता (चै भा मध्य. २।१०७-११८)।"

इसके पश्चात् श्रीवास पण्डितने शचीमाताके पास जाकर उनको आश्वस्त करते हुए कहा—"अपने चित्तका दु:ख दूर करिये, यह वायु नहीं हैं, कृष्णभक्ति है। इसको दूसरे लोग नहीं समझ सकते।" इतना कहकर श्रीवास पण्डित अपने घर चले गये और शचीमाताके मनसे वायुरोगका भ्रम दूर हो गया (चै. भा. मध्य. २।१२१-१२४)।

प्रभुके जिस आचरणको साधारण लोग वायुरोगका फल बताते, वह वास्तवमें वायुरोग नहीं था, श्रीकृष्ण प्रेमका बहिर्लक्षण था, यह उल्लिखित विवरणसे स्पष्ट ही समझा जा सकता है।

गया-गमनके पूर्व भी एक बार प्रभुके मध्य कृष्ण-प्रेमका विकार प्रकटित हुआ था (चै. भा. आ. ८।६७-८४)। कबिराज गोस्वामीने भी लिखा है—

"वायुव्याधि छले कैल प्रेम-प्रकाश ।
भक्तगण लैञा कैल बिविध बिलास ॥

चै. च. आ. १७।५

प्रभुके शरीरमें कभी भी वास्तविक कोई रोग नहीं हुआ। वे थे श्वेताश्वतर-श्रुति कथित 'निरामय'।

ग। विमृत्युता, मृत्युहीनता—पूर्वोल्लिखित छान्दोग्य-श्रुति वाक्यमें पृष्ठ १४५-१४६ पर ब्रह्मके सम्बन्धमें कहा गया है—वे हैं **विमृत्यु**। उनकी मृत्यु नहीं है। अन्य श्रुतिने भी परब्रह्मको 'अजरः, अमरः, अमृतः—अजर, अमर, मृत्युहीन बताया है (वृहदारण्यक ४।४।२५,)।

किस अवस्थाको मृत्यु कहते हैं ? जीवके देहसे जीवात्माके चले जानेपर उसका अचेतन देह पड़ा रह गया है—इसीको हमलोग मृत्यु कहा करते हैं। परब्रह्म स्वयंभगवान् एवं उनके किसी भी स्वरूपकी मृत्यु नहीं होती ; अर्थात् ब्रह्माण्डमें अवतीर्ण भगवत्स्वरूपके अन्तर्धानके बाद, जीवके देहकी तरह उनका कोई भी अवशेष पड़ा नहीं रहता। यही है श्रुति-कथित 'विमृत्यु' शब्दका तात्पर्य।

इसका हेतु भी है। जीवस्वरूप या जीवात्मा होती है चिद् वस्तु, जड़ विरोधी। मायाबद्ध संसारी जीवका देह होता है जड़—पंचभूतात्मक, मायिक। जड़का धर्म ही विकार है ; इसीलिए जीवके देहमें कर्मफलके अनुसार रोगादि देखनेमें आते हैं। मायाबद्ध जीव कर्मफलके भोगके लिए उपयोगी देहसे ही जन्म ग्रहण करता रहता है ; प्रारब्ध कर्मके फल भोग लिये जानेपर उस देहका और प्रयोजन नहीं रहता, तब उस देहका त्याग करके जीवात्मा तत्काल उद्बुद्ध कर्मोंके भोगोपयोगी

अन्य देहमें प्रवेश करती है, पूर्व देह पड़ा रह जाता है। जीवात्माके चिद्वस्तु होनेके कारण एवं जीवका भोगायतन देह चिद्-विरोधी जड़ वस्तु होनेके कारण जीवमें देह और देहीका भेद है।

ईश्वरमें किन्तु देह-देही भेद नहीं है। ईश्वर हैं सच्चिदानन्द विग्रह। उनका देह ही वे हैं, वे ही देह हैं। जीवके देहके मध्य जैसे जीवात्मा नामकी एक वस्तु रहती है, ईश्वरके देहमें ईश्वरात्मा नामकी कोई वस्तु नहीं रहती। वे आनन्दस्वरूप—चेतन आनन्दस्वरूप, सच्चिदानन्द हैं; उनका देह भी चेतन आनन्द है; इसलिए श्रुतिने उनको आनन्दघन, ज्ञानघन, चिद्घन बताया है।

पहिले ही कहा जा चुका है कि जीवकी तरह उनका जन्म भी नहीं है; इसलिए श्रुति उनको अज कहती है। परब्रह्म स्वयंभगवान् अपनी शक्तिसे जब लोकनयनोंके सामने आते हैं, तभी कहा जाता है कि वे आविर्भूत हुए हैं एवं लोगोंके जन्मका अनुकरण करके आविर्भूत होनेके कारण लोग मानते हैं कि उनका जन्म हुआ है। और जिस उद्देश्यसे वे ब्रह्माण्डमें अवतीर्ण होते हैं, उस उद्देश्य-सिद्धिके बाद वे अन्तर्धान हो जाते हैं, अर्थात् लोकनयनोंको दिखायी नहीं देते। उनसे पृथक उनका कोई देह न होनेके कारण, देह ही वे एवं वे ही देह होनेके कारण, उनका अन्तर्धान कहनेसे उनके देहका ही अन्तर्धान समझा जाता है। अतएव उनके अन्तर्धानके बाद उनका देह इस जगतमें पड़ा नहीं रहता (गौड़ीय वैष्णवदर्शन सन् १९५७ संस्करणके प्रथमखण्डके अवतरणिकाके १६७-१७८ पृष्ठोंपर ६९-७० अनुच्छेदमें स्मृतिश्रुति प्रमाण द्रष्टव्य)।

गत द्वापरमें स्वयंभगवान श्रीकृष्ण अवतीर्ण हुए थे एवं मोषललीलाके बहाने वे अन्तर्धान हो गये थे। श्रीमद्भागवत, विष्णुपुराण एवं महाभारतमें उनकी अन्तर्धान-लीला वर्णित है। इन सब ग्रन्थोंकी आलोचनासे जाना जाता है कि अन्तर्धानके बाद उनका कोई देहावशेष नहीं रहा (गौड़ीय वैष्णव दर्शन, प्रथम खण्डके पृष्ट ४२५-४३८, अनुच्छेद १४४ द्रष्टव्य)।

महाप्रभुका अन्तर्धान, लोचनदास और उड़िया कवियोंका अभिमत—अब श्रीमन्महाप्रभु श्रीचैतन्यदेवके अन्तर्धानके सम्बन्धमें आलोचना की जा रही है। श्रीचैतन्यदेवके अन्तर्धानके सम्बन्धमें मुरारि गुप्त, कवि कर्णपूर, ठाकुर वृन्दावनदास, कृष्णदास कविराज गोस्वामीने कोई विवरण नहीं दिया। बंगदेशके चरित्रकारोंमें एकमात्र लोचनदास ठाकुर ही इसको लिख गये हैं। ये लोचनदास श्रीमन्महाप्रभुके अन्तरंग पार्षद एवं श्रीनरहरि सरकार ठाकुरके प्रिय शिष्य थे। श्रीलोचनदास ठाकुरने 'श्रीश्रीचैतन्यमङ्गल' नामक एक ग्रन्थ लिखा है, जो तीन खण्डोंमें पूर्ण हुआ है। शेष खण्डके अन्तमें उन्होंने श्रीचैतन्यदेवकी अन्तर्धान लीलाका वर्णन किया है।*

उन्होंने लिखा है—"आषाढ मासकी सप्तमी तिथिको रविवारके दिन तीसरे प्रहरके समय श्रीमन्महाप्रभुने गुञ्जाबाड़ी (गुण्टीचा मन्दिर) श्रीजगन्नाथ मन्थिरमें प्रवेश करके श्रीजगन्नाथदेवको दृढ़तासे आलिंगन किया एवं तभी अदृश्य हो गये। श्रीवास पण्डित, मुकुन्द दत्त, श्रीगोविन्द, काशी मिश्र

---

* श्रीश्रीचैतन्यमङ्गल, श्रीमृणालकान्ति घोष भक्तिभूषण द्वारा सम्पादित, श्रीसुचारुकान्ति घोष, १४ आनन्द चटर्जी लेन, बागबाजार, कलकत्ता द्वारा प्रकाशित तृतीय संस्करण, बंगाब्द १३५४, पृष्ठ २१०-२११।

आदि भक्तगण भी उस समय वहीं उपस्थित थे। प्रभुको श्रीजगन्नाथ मन्दिरमें प्रवेश करते उन्होंने देखा था; किन्तु प्रवेश करते ही मन्दिरके कपाट बन्द हो गये। प्रभुके बाहर न आनेसे वे लोग अत्यन्त उद्विग्न हो उठे। तब गुञ्जाबाजीके ब्राह्मण पण्डाके वहाँ आनेपर उन लोगोंने उनसे कपाट खोलनेके लिए आर्त्ति पूर्वक अनुरोध किया। तब पण्डेने उनको बताया—गुञ्जाबाड़ीमें प्रभु अदृश्य हो गये, मैंने साक्षात गौर-प्रभुका मिलन देखा है।"*

उडिष्याधिपति राजा प्रतापरुद्र भी उस समय नीलाचलमें थे। प्रभुके भक्तवृन्द हाहाकर करने लगे। राजा प्रतापरुद्रने भी यह सब सुना और परिवार सहित अचेतन हो गये।**

गुण्टिचा मन्दिरको यहाँ गुञ्जाबाड़ी कहा गया है। रथ यात्राके समय श्रीजगन्नाथजी कुछ दिन गुण्टिचा मन्दिरमें रहते हैं। श्रीवास आदि गौड़ीय भक्तगण भी रथयात्राके उपलक्ष्यमें प्रभुके दर्शन करने नीलाचल जाया करते। श्रीश्रीचैतन्यचरितामृतसे जाना जाता है कि १४५५ शकाब्दमें महाप्रभुका तिरोभाव हुआ। इससे समझा जाता है कि १४५५ शकाब्दकी रथयात्राके तुरन्त बादकी सप्तमी तिथिको महाप्रभु अन्तर्धान हुए। आषाढ शुक्ला द्वितीयाको रथयात्रा होती है।

---

* गुञ्जाबाड़ीर मध्ये प्रभुर हैल अदर्शन।
साक्षाते देखिल गौर प्रभुर मिलन॥

** श्रीप्रतापरुद्र राजा शुनिल श्रवणे।
परिवार-सह राजा हरिल चेतने॥

श्रीचैतन्यमङ्गल, पृष्ट २११ कालम १

उड़िया साहित्यमें भी महाप्रभुका तिरोभाव प्रसंग देखनेमें आता है।*

महाप्रभुके समकालीन एवं उनके कृपापात्र श्रीअच्युतानन्दने उड़िया भाषामें 'शून्यसंहिता' नामक एक ग्रन्थ लिखा है। उसमें उन्होंने लिखा है—

"एमन्ते केतेहे दिन वहि गेला शुनिमा अपूर्व रस।
प्रतापरुद्र राजन बिजे कले कलरात्रटर पाश॥
एमन्त समये गौराङ्गचन्द्रमा बेड़ा प्रदक्षिण करि।
देउले पशिले सखागण सङ्गे दण्ड कमण्डलु धरि॥
महाप्रताप देव राजा घेणिन पात्र मन्त्रीमान सङ्गे।
हरि-ध्वनिये देउल उछुलइ श्रीमुख दर्शन रङ्गे॥
चैतन्य ठाकुर महानृत्यकार राधा राधा ध्वनि कले।
जगन्नाथ महाप्रभु श्रीअङ्गरे विद्युत्प्राय मिशि गेले॥

शून्य संहिता, प्रथम अध्याय। (चै च. उपादान पृष्ट २७८)

उल्लिखित विवरणसे जाना जाता है कि श्रीगौरचन्द्रने सखागणके साथ बेड़ा प्रदक्षिण करके जगन्नाथ मन्दिरमें प्रवेश किया एवं महानृत्य करते-करते राधा-राधा ध्वनि करके विद्युतकी तरह श्रीजगन्नाथके अंगमें मिल गये।

श्रीअच्युतानन्दके परवर्तीकालमें श्रीदिवाकर दास नामके एक उड़िया लेखकने भी लिखा है (चै. च. उपादान पृष्ट २७९)—

---

* उड़िया साहित्यका विवरण डा. श्रीविमान बिहारी मजुमदारके श्रीचैतन्यचरितेर उपादान ग्रंथके पृष्ठ २७८-२७९ से लिया गया है।

"एमन्त कहि श्रीचैतन्य श्रीजगन्नाथ अङ्गे लीन।
गोपन हइले स्वदेहे देखि काहार दृष्टि मोहे॥
ना देखि श्रीचैतन्यरूप सर्वमनरे दुख ताप।
राजा होइले मने छन्न हे प्रभु हेले अन्तर्धान॥
पूर्वे यहिरुँ आसिखिले लेओटि तहिं प्रवेशिले॥"

इस विवरणसे भी जाना गया कि महाप्रभु श्रीजगन्नाथ-विग्रहमें विलीन होकर ही अन्तर्धान हुए थे।

इसके ठीक पश्चात् चैतन्य चरितका उपादान, पृष्ठ २७६ में उल्लेख है—"दिवाकर दासके बादके युगके लेखक ईश्वरदासने कहा है कि श्रीचैतन्य जगन्नाथजीके अंगमें चन्दन लेपन करते-करते प्रतापरुद्रके समक्षमें वैशाखके तृतीय दिवसमें श्रीजगन्नाथ-विग्रहमें लीन हुए (श्रीईश्वरदासकी चैतन्य भागवत अध्याय ६)।" यहाँपर भी श्रीजगन्नाथ-विग्रहमें लीन होकर ही महाप्रभुके अन्तर्धानकी बात कही गयी है। किन्तु महाप्रभुके अन्तर्धानके समयके सम्बन्धमें श्रीईश्वरदासने जो लिखा है—वैशाखका तृतीय दिवस—यह विचार युक्त नहीं लगता। इसका कारण यह है—

महाप्रभुका तिरोभावका समय—१४३१ शकाब्द माघ मासकी अन्तिम तारीखको संन्यास ग्रहण करके, महाप्रभु फाल्गुन मासके अन्तमें नीलाचल गये एवं १४३२ शकाब्दके आरम्भमें (अर्थात् रथ-यात्राके पूर्व ही) दक्षिण चले गये। दक्षिण-प्रदेशमें पूरे दो वर्ष रहकर १४३४ शकाब्दके वैशाखमें नीलाचल लौट आये। उनके प्रत्यावर्तनका संवाद पाकर गौड़ीय भक्तगण उनके दर्शनके लिए रथयात्राके पूर्व ही नीलाचल आये। उस वर्ष उनको विदा करते समय महाप्रभुने कहा—"प्रत्येक

वर्ष सब लोग गुण्टिचा दर्शन करने आया करे। प्रभुकी आज्ञासे भक्तगण प्रति वर्ष आकर, गुण्टिचा दर्शन करते, प्रभुसे मिलते। २० वर्ष इस प्रकार आवा-गमन रहा।"*

संन्यासके पश्चात प्रभु २४ वर्ष प्रकट रहे। इन २४ वर्षोंमें गौड़के भक्तगण केवल २० वर्ष नीलाचल रथयात्राके समय आये थे, ४ वर्ष नहीं आये (दो वर्ष तो १४३२-१४३३ शकाब्दमें प्रभु दक्षिणमें थे तब, १४३६ शकाब्दमें रथयात्राके समय स्वयं ही गौड़ गये थे तब और १४३७ में प्रभुने गौड़ीय भक्तोंको स्वयं ही मना कर दिया था।** इसलिए इस वर्ष भी

---

*बिदाय समये प्रभु कहिला सभारे।
"प्रत्यब्द आसिबे सभे गुण्टिचा देखिबारे॥
प्रभुर आज्ञाय भक्तगण प्रत्यब्द आसिया।
गुण्टिचा देखिया जान प्रभुरे मिलिया॥
विंशति वत्सर ऐछे करे गतागति।

चै. च. म. १।४३-४५

तबे महाप्रभु सब भक्त बोलाइला।
'गौड़देशे जाह सभे' विदाय करिला॥
सभारे कहिला प्रभु—प्रत्यब्द आसिया।
गुण्टिचा देखिया जावे आमारे मिलिया॥

चै. च. म. १५।४०,४१

शिवानन्दसेनके प्रति—

प्रतिवर्ष आमार सब भक्तगण लञा।
गुण्टिचाय आसिबे सभाय पालन करिया॥

चै. च. म. १५।९८

** ए-वर्ष निलाद्रि केहना करिह गमन॥ चै. च. म १६।२४५

भक्तगण नहीं आये। श्रीचैतन्यचरितामृतके अन्त्यलीलाके द्वितीय परिच्छेदके ३६-४२ पयार छन्दोंसे भी जाननेमें आता है कि शिवानन्दसेनके भागनेय (भाञ्जे) श्रीकान्तसेनके द्वारा प्रभुने एक बार रथ यात्राके पूर्व ही गौड़ीय भक्तोंको कहलवा दिया था कि उस एक वर्ष कोई नीलाचल न आवे। इस प्रकार देखनेमें आता है कि केवल ४ वर्ष गौड़ीय भक्तगण नीलाचल रथयात्राके समय नहीं रहे; प्रभुके प्रकट-कालमें सन्यासके २४ वर्षोंमें-से २० वर्ष वे लोग नीलाचल गये थे। २० वर्ष जानेपर ही संन्यासके २४ वर्षोंमें २४ रथयात्रा हुईं थीं; नहीं तो २० वर्ष भक्तोंका नीलाचल जाना सम्भव नहीं होता। प्रभुके संन्यासके बाद प्रथम रथयात्रा १४३२ शकाब्दकी थी, अतएव २४ रथयात्रा १४५५ शकाब्दमें पूरी होंगी। १४५५ शकाब्दकी रथयात्रामें भी गौड़ीय भक्तगण नीलाचल गये थे, नहीं तो २० वर्ष जाना नहीं बनता। १४५५ शकाब्दमें ही प्रभुका तिरोभाव है। रथयात्रा होती है आषाढ़ मासमें; उसके पूर्व ही वैशाख मासमें प्रभुका तिरोभाव होना मान लिया जाय, तो तिरोभावके बाद गौड़ीय भक्तोंका नीलाचल जाना सम्भव नहीं लगता। वे तो प्रभुके दर्शनोंके लिए ही जाय करते, रथयात्रा दर्शन उनका प्रधान उद्‌देश्य नहीं था, इसीलिए प्रभु जिन दो वर्ष दक्षिणमें थे, उन दो वर्षोंकी रथयात्राके समय वे नीलाचल नहीं गये। १४५५ शकाब्द आषाढ़ मासमें प्रभुके साथ रथयात्रा दर्शन ही उनका अन्तिम रथयात्रा दर्शन था।

इस आलोचनासे जाना गया कि १४५५ शकाब्दकी रथयात्राके समय भी प्रभु प्रकट थे। परवर्ती १४५६ शकाब्दके वैशाखमें भी प्रभुका तिरोभाव सम्भव नहीं, क्योंकि वैशाखमें प्रभुकी आयु ४८ वर्षसे अधिक हो जाती। किन्तु ४८ वें वर्षमें

प्रभुके तिरोभावकी बात चरितकार-गण बता गये हैं। वास्तवमें प्रभु प्रकट रहे ४७ वर्ष और ४ महिने। कविराज गोस्वामी स्पष्ट भावसे कह गये हैं—"१४०७ शकाब्दमें जन्म और १४५५ शकाब्दमें अन्तर्धान हुआ (चै. च. आ. १३।८)।" केवल शकाब्दकी गणनासे ही (१४५५-१४०७) ४८ वर्ष बतता है। वास्तवमें संन्यासके बाद प्रभु २३ वर्ष और ४ महिने ही प्रकट थे। कविकर्णपूरका महाकाव्य भी इसका समर्थक है।

कविकर्णपूरने लिखा है कि महाप्रभु २४ वर्षमें संन्यास ग्रहण करके श्रीक्षेत्र आये थे एवं जहाँ-तहाँ भ्रमण करनेमें श्रीक्षेत्रसे बाहर ३ वर्ष रहे तथा कुल २० वर्ष श्रीक्षेत्रकी रथयात्राके दर्शन किये।

चतुर्विंशे तावत् प्रकटितनिजप्रेमविवशः
प्रकामं संन्यासं समकृत नवद्वीपतलतः।
त्रिवर्षं च क्षेत्रादपि तत इतो पन्नगमयत्
तथा दृष्ट्वा यात्रा व्यनयदखिला विंशतिसमाः॥

महाकाव्य २०।४०

महाप्रभु दक्षिण-प्रदेशमें पूरे दो वर्ष थे, गौड़ जानेमें ६ महिने, एवं वृन्दावन जानेमें ६ महिने श्रीक्षेत्रसे बाहर रहे। इसीलिए कवि कर्णपूरने लिखा है कि जहाँ-तहाँ भ्रमणमें प्रभु ३ वर्ष श्रीक्षेत्रसे बाहर रहे। २० वर्ष प्रभुने रथ-यात्राका दर्शन किया। १४५५ शकाब्दकी रथयात्राका दर्शन किये बिना २० वर्ष रथ-यात्राका दर्शन नहीं बनता।

कवि कर्णपूरने और भी लिखा है कि नीलाचलसे बाहर उस स्थानपर कुछ दिन रहकर नीलाचल लौट आये एवं वहाँके

भक्तवृन्दोंको आनन्दित किया, एवं उनमें-से कुछ भक्तोंके साथ, २० वर्षोंके मध्य जिनकी रथयात्रा हुई, उनके दर्शन कर (अथवा उन भक्तोंमें-से कुछ भक्तोंके साथ) अपने धाम गये थे।

"स्थित्वा तत्र दिनानि हन्त कतिचिद्भूयोऽसिताद्रौ प्रभुः
श्रीमानेत्य ननन्द नन्दयति च स्मैतानजस्रं जनान्।
एवं विंशतिहायनान्तरभवां यात्रां विलोक्याखिलां
स्वं धामाथ जगाम कैश्चिदपि तैः सार्द्धं कृपासागरः॥"

महाकाव्य २०।३७

महाकवि कर्णपूरने और भी लिखा है कि श्रीगौराङ्गदेव ४७ वर्ष भू-मण्डलमें नाना प्रकारके लीला-नृत्य-क्रीड़ा करके, उसके बाद स्वधाम गये।

"इत्थं चत्वारिंशता सप्तभाजा श्रीगौराङ्गो हायनानां क्रमेण।
नानालीलालास्यमासाद्य भूमौ क्रीड़न् धाम स्वं ततोऽसौ जगाम॥

महाकाव्य २०।४१

कर्णपूरकी इन सब उक्तियोंसे जाना जाता है कि नीलाचलमें महाप्रभुने २० वर्ष, २० रथयात्राके दर्शन किये थे। पहिले प्रदर्शित हो चुका है कि १४५५ शकाब्दकी रथयात्रा ही प्रभु द्वारा दृष्ट शेष रथयात्रा थी, अर्थात् गौड़ीय-भक्तों द्वारा दृष्ट २० वीं रथयात्रा। तथापि कर्णपूरने कहा है कि प्रभु ४७ वर्ष प्रकट रहे। १४०७ शकाब्दकी फाल्गुन पूर्णिमाको प्रभुका आविर्भाव हुआ; अतएव १४५५ शकाब्दकी फाल्गुन पूर्णिमाको उनके पूर्ण ४८ वर्ष होंगे। कवि कर्णपूरकी उक्तिसे जाना जाता है कि १४५५ शकाब्द फाल्गुनी पूर्णिमाके पूर्व ही एवं १४५५ शकाब्दके आषाढ़ मासकी रथयात्राके बाद ही प्रभुने स्वधाम गमन किया।

इस आलोचनासे देखा गया कि उड़िया कवि श्रीईश्वरदासने जो वैशाख मासमें प्रभुके अन्तर्धानकी बात लिखी है, वह विचार युक्त नहीं है। श्रीलोचनदासने प्रभुके अन्तर्धानके जिस समयकी बात लिखी है, श्रीश्रीचैतन्यचरितामृत एवं महाकाव्यकी उक्तिके साथ उसकी संगति बैठती है ; अतएव वही ग्रहणीय हो सकती है। कर्णपूर अपने पिता शिवानन्द सेनके साथ बाल्यावस्थामें रथयात्राके समय नीलाचल जाकर प्रभुके दर्शन किया करते ; उन्होंने महाकाव्यका लेखन भी १४६४ शकाब्दमें, प्रभुके अन्तर्धानके ९ वर्ष बाद, पूरा किया था। लोचनदास भी प्रभुके अन्तरंग पार्षद नरहरि सरकार ठाकुरके शिष्य थे ; उन्होंने सरकार ठाकुरसे महाप्रभुके सम्बन्धमें अनेक कथाएँ साक्षाद्भावसे सुनी है। अतएव प्रभुके अन्तर्धानके सम्बन्धमें इन दोनों द्वारा दिये गये विवरणका विश्वास न करनेका कोई कारण नहीं दीखता।

अन्तर्धानके सम्बन्धमें कर्णपूरका अभिमत—जो हो, श्रीलोचनदास एवं उड़िया कवि श्रीअच्युतानन्द एवं श्रीईश्वरदासकी उक्तियोंसे जाना गया कि श्रीजगन्नाथ विग्रहमें लीन होकर ही महाप्रभु अन्तर्धान हुए। कवि कर्णपूरने अपने महाकाव्य (२०।३७) में लिखा है—"प्रभुने स्वधाम गमन किया।" किस प्रकार स्वधाम गये, इसको कवि कर्णपूरने स्पष्ट नहीं किया। किन्तु कर्णपूरने महाप्रभुको जीव नहीं माना है। प्रभुके स्वधाम-गमनकी बातसे उन्होंने प्रभुके निजस्व एक धामका अस्तित्व स्वीकार किया है। भगवत्-स्वरूप 'विमृत्यु' होते हैं, श्रुतिकी इस उक्तिको कर्णपूर नहीं जानते थे— यह भी नहीं माना जा सकता। अतएव प्रभुके स्वधाम-गमनकी बात कहकर कर्णपूरने प्रभुके स-शरीर स्वधाम-गमनकी बात ही कही

है ; मृत्मृके बाद मनुष्यका देह जिस प्रकार पड़ा रह जाता है, अन्तर्धानके बाद प्रभुका शरीर उस प्रकारसे पड़ा रहा हो, यह भी कर्णपूरका अभिप्राय नही हो सकता। किसी भी मनुष्यकी मृत्यु पर, उसका स्वधाम-गमन नहीं कहा जाता ; साधारण लोगोंकी मृत्युको साधनोचित्त धाममें या (पर)लोकमें गमन कहा जाता है।

विरुद्ध मतकी आलोचना—लौकिक जगतमें जो देखा जाता है, या सुना जाता है, उसके अतिरिक्त कुछ है, या हो सकता है, इसको जो लोग नहीं मानते, जगन्नाथमें लीन होकर महाप्रभूके अन्तर्धानकी बात भी वे लोग विश्वास नहीं कर सकते। इस प्रकारकी बातको वे अलौकिक बात मानते हैं ; इस प्रकारकी अलौकिक बात लौकिक जगतमें न दीखनेके कारण वे इसकी सत्यता स्वीकार करनेके भी इच्छुक नहीं है। जगतके अधिकांश ससारी लोग इसी प्रकारके है। इनको जड़वादी कहा जाता है।

जो लोग भगवान्‌के अस्तित्वमें विश्वास करते है, वे यह भी विश्वास करते हैं कि भगवान् कोई लौकिक वस्तु नहीं है। उनके कोई भी कर्म लौकिक कार्य नहीं होते। भगवान् एवं उनके कार्य अलौकिक होते हैं। श्रीमद्‌भगवद्‌गीता(४।९) में भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं ही कहा—"जन्म कर्म च मे दिव्यं," दिव्य=अलौकिक। भगवान् प्रकृतिसे अतीत हैं ; उनके कार्य भी प्रकृतिसे अतीत—अप्राकृतिक होते हैं। प्राकृतिक जगतके किसी भी ज्ञान द्वारा अप्राकृतिक वस्तुके सम्बन्धमें किसी समाधान पर नहीं पहुँचा जा सकता। इसलिए शास्त्र कह गये हैं—

"अचिन्त्याः खलु ये भावा तांस्तर्केन योजयेत् ।
प्रकृतिभ्यः परं यत्तु तदचिन्त्यस्य लक्षणम् ॥"

श्रीपाद शंकराचार्यने भी ब्रह्मसूत्रके अपने भाष्यमें कई स्थानोंपर इसी शास्त्र-वाक्यको उद्धृत करके उसकी सत्यता स्वीकार की है। किन्तु शास्त्र-वाक्यमें एवं जड़ातीत या अप्राकृतिक वस्तुमें विश्वासवान् लोगोंकी संख्या बहुत अधिक नहीं है। अधिकांश लोग अप्राकृतिक या अलौकिक बातोंमें विश्वास नहीं करते एवं इसलिए श्रीजगन्नाथके विग्रहमें लीन होकर प्रभुके अन्तर्धानकी बातमें भी विश्वास नहीं करते। इसलिए आधुनिक कोई-कोई साहित्य समालोचक महाप्रभुके अन्तर्धानके सम्बन्धमें उल्लिखित जड़वादियोंके मनके अनुकूल मत प्रकाशित करते रहते हैं।

सब समालोचक ही जड़वादी हैं, यह भी सत्य नहीं है; तथापि कोई-कोई लोकरंजनके लिए, कोई-कोई साहित्यिक-समाजमें अप्रतिष्ठित होनेके डरसे साधारण लोगोंके ग्रहण योग्य भावसे अभिमत व्यक्त करते रहते हैं।

जो हो, इस प्रकारके दो-एक अभिमतके सम्बन्धमें यहाँ कुछ आलोचना अप्रासंगिक नहीं होनी चाहिये।

"गुञ्जावाड़ीमें या श्रीजगन्नाथ-विग्रहमें श्रीचैतन्यके तिरोभावकी बातमें मानों एक गुप्त हत्याका संकेत है—ऐसा कोई-कोई सन्देह करते हैं। उड़िया ब्राह्मण लोग श्रीचैतन्यके प्रति अत्यन्त ईर्षान्वित थे; श्रीचैतन्यके सम्पर्कमें आकर प्रतापरुद्र और रामानन्द राजकार्यमें अवहेलना करने लगे थे; विजय नगरके कृष्णदेव राय और गौड़के हुसेनशाहके आक्रमणके फलस्वरूप उत्कल राष्ट्रकी सीमा संकुचित हो गयी; श्रीचैतन्यके और उड़िया-भक्त अच्युत, यशोवन्त आदिके प्रचारके फलस्वरूप

ब्राह्मणोंके सम्मान और मर्यादाका ह्रास होने लगा ; यहाँ तक कि 'महाप्रभु' कहनेसे श्रीजगन्नाथ समझे जाँय या श्रीचैतन्य— यह लेकर, अथवा दोनोंमें कौन बड़े हैं—यह लेकर उड़िया और गौड़ीया लोगोंमें विवाद उठता।* इसलिए इस प्रकारकी घटना आश्चर्यजनक नहीं कही जा सकती कि श्रीचैतन्य १५३३ ईस्वीमें आषाढ़ शुक्ला सप्तमी तिथिको अस्वस्थ शरीरसे अकेले जगन्नाथ दर्शनको गये और वहाँ भाववेशमें वे मूर्च्छित हो गये, उसी सुयोगमें उनके प्रति क्रोधवश जगन्नाथके पण्डोंमें-से किसीने उनकी हत्या कर उनके शरीरको छिपा दिया। अन्तमें राजाके पास कैफियत देनेके लिए उन्होंने प्रचार कर दिया कि श्रीचैतन्य जगन्नाथ-देहमें विलीन हो गये हैं। इस अनुमानका समर्थक कोई भी प्रमाण नहीं है।

"जगन्नाथके पण्डाओंमें-से किसी-न-किसीने श्रीचैतन्यकी हत्याकी है"—यह **अनुमान मात्र** है एवं **"इस प्रकारके अनुमानका समर्थक कोई भी प्रमाण नहीं है।"**

"उड़िया ब्राह्मण लोग श्रीचैतन्यके प्रति अत्यन्त ईर्ष्यान्वित थे।"—इस उक्तिका समर्थक कोई भी प्रमाण नहीं है। श्रीचैतन्य-चरितकारोंके ग्रन्थोंसे जो जाना जाता है वह इस उक्तिके प्रतिकूल है। राजा प्रताप रुद्रके गुरु काशीनाथ मिश्र, सुविख्यात महापण्डित वासुदेव सार्वभौम, प्रद्युम्न मिश्र आदि तत्कालीन उड़िशावासी ब्राह्मण लोग सभी महाप्रभुके एकान्त

---

* कविकर्णपूरके 'चैतन्यचन्द्रोदय-नाटक' के १०।३में शिवानन्द-सेनको एक उड़िया अमात्य कहते है—"त्वं चैतन्यस्य, अहं जगन्नाथस्य, जगन्नाथचैतन्ययोः को महान् ?" अनेनोक्तम्। "मम तु कृष्णचैतन्य एव महान्।"

अनुगत थे। ये सभी वहाँ के ब्राह्मणोंमें अग्रगण्य थे। अन्य कोई भी ब्राह्मण श्रीचैतन्यके प्रति अत्यन्त ईर्षान्वित थे—इसका कोई प्रमाण चरितकारोंकी उक्तिमें नहीं मिलता।

चरितकारों द्वारा दिये गये विवरणसे जाना जाता है कि श्रीचैतन्यदेव, ब्राह्मणोंकी बात तो दूर रही, अन्य किसीकी भी मर्यादाका लंघन कभी भी सहन नहीं कर पाते थे। गया जाते समय मार्गमें ब्राह्मणोंकी मर्यादा-प्रदर्शनके लिए उन्होंने अपने शरीरमें ज्वरका भान करके विप्रपादोदक ग्रहण किया था। जिन्होंने प्रकाश रूपमें कहा है—"जीवे सम्मान दिवे जानि कृष्णेर अधिष्ठान (चै. च. अं. २०।२०)", वे ऐसी किसी भी बातका प्रचार करें, जिससे ब्राह्मणके सम्मान और मर्यादाकी हानि हो, यह कैसे विश्वास किया जा सकता है। उनके पदावनत भक्त अच्युतानन्द आदि भी उनके अनभिप्रेत मतका प्रचार करेंगे, यह भी कैसे विश्वास किया जाय ?

कोई-कोई कहते हैं—"श्रीचैतन्यके संस्पर्शमें आनेके कारण प्रतापरुद्र और रामानन्द राजकार्यमें अवहेलना करने लगे।" संन्यासके बाद महाप्रभुके नीलाचल आनेके दो वर्ष बाद ही रामानन्द रायने राजकार्यका परित्याग किया। अतएव 'रामानन्द रायके अवहेलनाका' प्रश्न उठ ही नहीं सकता। प्रताप रुद्रके राजकार्यमें अवहेलनाके कारण ही वे कृष्णदेव राय और हुसेन साहके साथ युद्धमें पराजित हुए थे एवं उसके फल-स्वरूप उत्कल राष्ट्रकी सीमा संकुचित हुई—यह भी क्या निःसन्देह कहा जा सकता है ? प्रताप रुद्रने आक्रमणकारियोंका प्रतिरोध करनेकी चेष्टा नहीं की— इसका प्रमाण कहाँ है ? युद्धमें सभी जगह जय-पराजय होती रहती है। किसी युद्धमें प्रताप-

रुद्रकी पराजय हुई भी हो, तो वह पराजय एकमात्र उनके श्रीचैतन्यके संस्पर्शमें आनेके फलस्वरूप हुई, यह भी कैसे कहा जा सकता है ?

कुछ लोग कहते हैं—"यहाँ तक कि 'महाप्रभु' कहनेसे जगन्नाथ या श्रीचैतन्य समझे जाँय—इसको लेकर, अथवा दोनोंमें बड़ा कौन है—इसके सम्बन्धमें उड़ियोंके साथ गौड़ीय लोगोंका विवाद उठा करता।" अपनी इस उक्तिके समर्थनमें उन्होंने कविकर्णपूरके 'श्रीचैतन्यचन्द्रोदय नाटक' की एक उक्ति उद्धृत की जाती है। किन्तु चैतन्यचन्द्रोदय नाटककी जो उक्ति उद्धृतकी जाती है, उसके पूर्ववर्ती एवं परवर्ती अंश उद्धृत करनेसे कर्णपूरकी उक्ति इस उक्तिकी समर्थक हो, ऐसा नहीं लगता। विवरण दिया जा रहा है।

कर्णपूर्णने अपने 'चैतन्यचन्द्रोदय नाटक' के दशम अङ्कमें अद्वैताचार्यके अनुगत एक गन्धर्व और किसी एक वैदेशिकके बीच कथोपकथनके प्रसंगमें—शिवानन्द सेन किस प्रकार यत्न और प्रीति पूर्वक गौड़ीय भक्तगणको, यहाँ तक कि कुत्ते पर्यन्तको नीलाचल ले जाते—यह दिखाया है। उन्होंने दिखाया है कि सबका पथ-कर भी शिवानन्द सेन चूकाते। प्रभुकी महिमासे दानघाटीके कर्मचारी साधारणतः कोई भी गोलमाल नहीं करते। एक बार संकट उपस्थित हुआ था। एक वर्ष राजा प्रतापरुद्रके दक्षिण-देश चले जानेसे घटपालोंके अधिकारी प्रतापरुद्रके एक अमात्य स्वतन्त्र हो गये। जब नीलाचलके मार्गमें गौड़ीय भक्तगण रेमुना पहुँचे, तब वे भी रेमुना जा पहुँचे। उन्होंने प्रचलित रीतिके बदलेमें पथकरकी राशि बहुत बढ़ा दी और उस बढ़ी हुई राशिके अनुसार प्रत्येक यात्रीका कर

मांगा एवं इस बढ़ायी गयी राशिके हिसाबसे पिछले वर्षोंका कर भी—जो वहुत बड़ी रकम बनती थी—मांगने लगा। इस मांगकी रकम नहीं दे सकते के कारण उसने शिवानन्दको काष्ठकी बेड़ीसे बाँध दिया। बादमें रात्रि दो पहरके बाद उस अमात्यने एक छड़ी-धारी अनुचरके द्वारा शिवानन्दको बुलाया। शिवानन्द भी उद्विग्न चित्तसे श्रीचैतन्य-चरणोंका स्मरण करते-करते उस अमात्यके पास आये।

उस अमात्यने पूछा—"अये त्वं सपरिकरः समायातोऽसि ?—अरे, तुम क्या सपरिकर आये हो ?" शिवानन्दने कहा—"अथ किम् ?" तब उस अमान्यने फिर पूछा—"त्वं कस्य लोकः ?—तुम किसके लोग हो ?" शिवानन्दने उत्तर दिया—"श्रीकृष्णचैतन्यस्य—मैं श्रीकृष्णचैतन्यका लोग हूँ।" तब अमात्यने कहा—"त्वं चैतनस्य, अहं जगन्नाथस्य, जगन्नाथ-चैतन्ययोः को महान् ? अननोक्तम्—'मम तु कृष्णचैतन्य एव महान्।'—तुम चैतन्यके हो, मैं जगन्नाथका हूँ। जगन्नाथ और चैतन्यमें बड़ा कौन है ? तब शिवानन्दने कहा—मेरे लिए तो कृष्णचैतन्य ही बड़े है।" केवल मात्र इतनी ही उक्ति-प्रत्युक्तिको ही प्रमाणमें उद्धृत किया जाता है।

शिवानन्दसेनकी बात सुनकर 'प्रीतिसुमुख' होकर अपराधीकी तरह उस अमात्यने (इत्याकर्ण्य प्रीतिसुमुखो भूत्वा सापराध इव) कहा—"अये मया स्वप्नो दृष्टः। श्रीकृष्णचैतन्यो मामुक्तवान्—'मदीयो लोकस्त्वया बद्धोऽस्ति त्वरिमेव मुच्यताम्' इति। तदयमपराधो क्षन्तव्यः। तव किंचिदपि दातव्यं नास्ति, सुखेन प्रातरुत्थाय सर्वैः सह गम्यताम्' इत्युक्त्वा दीपिका धारिणौ द्वौ उक्तवान्—'अस्य परिकरो यत्र वर्तते, तत्रायं

स्थाप्यताम्' इति ॥—अहो ! मैंने स्वप्न देखा है। श्रीकृष्ण-चैतन्यने मुझसे कहा—'मेरे लोग तुम्हारे द्वारा आबद्ध हुए है, शीघ्र उनको बन्धन-मुक्त करो।' अतएव मेरा यह अपराध क्षमा करो। तुम्हें कुछ भी देना नहीं होगा। प्रातःकाल उठकर सबके साथ सुखपूर्वक गमन करो।' शिवानन्दसे यह बात कहकर उस अमात्यने अपन दीपकधारी दोनों आदमियोंसे कहा—'इन (शिवानन्द) के परिकरगण जहाँ है, इनको वहीं पहुँचा दो'।"

यही है श्रीचैतन्यचन्द्रोदय-नाटकमें कवि कर्णपूर कथित सब विवरण। इस विवरणमें-से छाँटकर एक अंश उद्धृत करके पाठकोंको समझानेकी चेष्टाकी जाती है कि—"यहाँ तक कि 'महाप्रभु' कहनेसे श्रीजगन्नाथको समझा जाय या श्रीचैतन्यको, अथवा दोनोंमें कौन बड़ा है—इस सम्बन्धमें उड़ियाओंके साथ गौड़ियोंका विवाद होता।" श्रीचैतन्यचन्द्रोदयके विवरणसे इस उक्तिका समर्थन होता है या नहीं, सुधीवृन्द इसका निर्णय करें।

श्रीचैतन्यचन्द्रोदयके इस विवरणको लेकर कि—"महाप्रभु कहनेसे श्रीजगन्नाथको अथवा श्रीचैतन्यको समझा जाय"—अथवा "दोनोंमें कौन बड़ा है—इस प्रश्नको लेकर उड़ियाओंके साथ गौड़ियोंके विवाद" की बात—कुछ भी देखनेमें नहीं आती। बात हुई है राज-अमात्य और शिवानन्दके बीच, उड़ियाओं और गौड़ियोंके बीच नहीं। अमात्य बहुत सज्जन थे—यह भी उल्लिखित विवरणसे नहीं जाना जाता। श्रीचैतन्यचन्द्रोदयमें उन्हें दुरात्मा, पामर, एवं राजधानीसे प्रताप रुद्रके दक्षिणदेश गमनके सुयोगसे स्वातन्त्र्यालम्बी हुए बताया गया है। किसी भी कारणसे हो, करकी बाबत कुछ अधिक रुपये वसूल करना ही उनका उद्देश्य था। शिवानन्द यदि उनको रुपये चूका देते तो वे उनको काष्ठ-

बेड़ीमें नहीं बांधते। सब गौड़ियोंको उत्पीदन करनेका उनका अभिप्राय होता तो सबको ही काष्टबेड़ीमें बाँधते, क्योंकि कर-के लिए तो सभी दायी थे। किन्तु अमात्यने वैसा नहीं किया। इसीसे समझा जाता है कि गौड़ियोंके प्रति अत्याचार उनको अभिप्रेत नहीं था। रुपयोंके प्रति ही उनकी लालसा थी। शिवानन्दको बेड़ीसे बाँधकर अमात्य सो गये ; आधी रातमें उन्होंने स्वप्नमें श्रीकृष्ण चैतन्यका दर्शन एवं उनका आदेश पाते ही नींदसे उठकर उसी क्षण शिवानन्दको बुलाया एवं जिज्ञासा करी—"त्वं कस्य लोकः—तुम किसके लोग हो ?" स्वप्नमें श्रीकृष्णचैतन्यने अमात्यसे कहा था—"मदीयो लोकस्त्वया बद्धोऽस्ति—मेरे लोग तुम्हारे द्वारा आबद्ध हुए है"—इसकी सत्यता जाँचनेके लिए ही, लगता है अमात्यने शिवानन्दसे जिज्ञासा की—"तुम किसके लोग हो ?" शिवानन्दने जब कहा—"मैं श्रीकृष्णचैतन्यका लोग हूँ," तब उस अमात्यने कहा—"तुम चैतन्यके और मैं जगन्नाथका—इन दोनोंमें बड़ा कौन है ?" शिवानन्दने कहा—"मेरे लिए तो श्रीकृष्णचैतन्य ही बड़े हैं।" शिवानन्दकी बात सुनकर उस अमात्यने किसी भी प्रकारका प्रतिवाद नहीं किया ; बल्कि 'प्रीतिसुमुख' हुए एवं अपनेको 'सापराध' मानकर शिवानन्दसे अपने देखे स्वप्नकी बात कहकर अपराधके लिए क्षमा-प्रार्थना की है ; शिवानन्दको बन्धनमुक्त करके कहा है—"तुमको अब कुछ भी देना नहीं होगा, अपने साथियोंको लेकर कल प्रातःकाल सुखपूर्वक यहाँसे गमन करो।" केवल इतना ही नहीं, अमात्यने अपने आदमीके द्वारा दीपक-आलोकमें शिवानन्दको, उनके साथी जहाँ थे, वहाँ पहुँचवा दिया। इस विवरणसे स्पष्ट समझा जाता है कि शिवानन्दने श्रीकृष्णचैतन्यको बड़ा बताया, अमात्यने उसको

प्रीति पूर्वक मान लिया, इससे वे 'प्रीतिसुमुख' हुए हैं, एवं श्रीकृष्णचैतन्यके आदमी शिवानन्दको बाँध लेनेके कारण अपनेको अपराधी मानकर उन्होंने शिवानन्दसे क्षमा-प्रार्थना की है एवं बादमें शिवानन्दके प्रति अप्रत्याशित सद्व्यवहार ही किया है। जगन्नाथ एवं कृष्ण-चौतन्यके बीच कौन बड़ा है, इस विषयको लेकर भी अमात्य और शिवानन्दके बीच कोई भी तर्क-वितर्क नहीं हुआ। ओर 'महाप्रभु' कहनेसे श्रीजगन्नाथको अथवा श्रीकृष्णचौतन्यको समझा जाय, इस प्रकारका कोई प्रसंग भी श्रीचौतन्यचन्द्रोदयमें नहीं दीखता।

जो हो, पण्डाओंके द्वारा महाप्रभुकी हत्याके सम्बन्धमें अब आलोचनाकी जाय।

किसी-किसीकी मान्यता है—"श्रीचौतन्य १५३३ ईश्वीके आषाढ़ शुक्ला सप्तमी तिथिको अस्वस्थ शरीरसे अकेले दर्शन करने गये थे और वहीं भावावेशमें वे मूर्च्छित हो गये थे ; उसी सुयोगमें उनके प्रति आक्रोशवश जगन्नाथके पण्डोंमें-से किसी-न-किसोने उनकी हत्या-करके उनका देह छिपा दिया। अन्तमें राजाके पास कैफियत देनेके लिए उन्होंने प्रचार कर दिया कि श्रीचौतन्य जगन्नाथ-विग्रहमें विलीन हो गये हैं।"

इस सम्बन्धमें निवेदन इस प्रकार है—

प्रथम तो, श्रीचौतन्य अस्वस्थ शरीरसे अकेले श्रीजगन्नाथ-दर्शन करने गये थे—इसका कैसे अनुमान किया गया—यह समझमें नहीं आता। आषाढ़ शुक्ला सप्तमी तिथिको प्रभुके श्रीजगन्नाथ-मन्दिरमें प्रवेशकी बात जिन सब चरितकारोंने लिखी है, उनमें-से किसीने भी प्रभुकी किसी भी प्रकारकी अस्वस्थताका उल्लेख नहीं किया है, उनके अकेले ही श्रीजगन्नाथ-

मन्दिरमें प्रवेशकी बात भी नहीं लिखी है। श्रीलोचनदासने लिखा है कि भक्तवृन्दके साथ प्रभु श्रीजगन्नाथ-मन्दिरमें गये थे। श्रीअच्युतानन्दने भी लिखा है—गौरचन्द्रने 'बेड़ा प्रदक्षिण' करके "सखागण सङ्गे देउले पशिले" एवं "महाप्रताप देव राजा घेणिल पात्र-मन्त्री-मान सङ्गे।" प्रभुके अकेले ही श्रीजगन्नाथ-मन्दिरमें प्रवेशकी बात इन्होंने किसीने नहीं लिखी।

अब रही बात प्रभुके प्रति श्रीजगन्नाथके पण्डागणके आक्रोशकी। चरितकारोंकी उक्तिसे प्रभुके प्रति श्रीजगन्नाथके पण्डोंके आक्रोशकी बात कुछ भी नहीं जानी जाती। बल्कि यही जाना जाता है कि श्रीजगन्नाथके सेवक पण्डागण सभी प्रभुके प्रति अत्यन्त भक्तिमान् थे। उनके आक्रोशका हेतु भी कुछ था—ऐसा नहीं लगता। श्रीजगन्नाथके सेवक पण्डोंके प्रति प्रभु सर्वदा ही यथोचित सम्मान प्रदर्शित किया करते; उनके साथ प्रभुका व्यवहार भी अत्यन्त प्रीतिमय था। वे भी सर्वदा प्रभुके प्रति श्रद्धा, भक्ति और प्रीति दिखाया करते; जब भी प्रभु मन्दिरमें जाते, तभी वे लोग प्रभुको प्रसाद और माल्यादि दिया करते। प्रभुके द्वारा यात्रीगणके पाससे पंडोंके अर्थागमका पथ भी संकुचित नहीं हुआ, बल्कि प्रभुके दर्शनोंके लिए असंख्य लोगोंका नीलाचल आना होता रहनेके कारण उनका अर्थागमका पथ प्रशस्ततर ही हुआ था। इस अवस्थामें प्रभुके प्रति पण्डोंके आक्रोशकी बात कैसे कल्पनाकी जाय?

पण्डों द्वारा प्रभुकी हत्या—युक्तिके अनुरोधसे प्रभुके प्रति पण्डोंके आक्रोशकी बात स्वीकार करनेपर भी श्रीजगन्नाथ-मन्दिरमें उन लोगोंके द्वारा प्रभुकी हत्या पूर्णरूपसे ही असम्भव लगती है। इसका कारण यह है।

घटना घटित हुई है आषाढ़ मासकी शुक्ला सप्तमीको, रथयात्राके बाद पाँचवे दिन। श्रीजगन्नाथ उस समय गुण्टिचा मन्दिरमें विराजित थे। घटना भी घटी दिनके समय। रथयात्राके उपलक्ष्यमें अनेक स्थानोंसे बहुत लोग नीलाचल गये होते हैं। गुण्टिचा मन्दिरमें श्रीजगन्नाथके दर्शनोंके लिए सर्वदा ही बहुत लोगोंकी भीड़ लगी रहती है। घटनाके समय साधारण लोगके लिए भी दर्शनोंकी बाधा नहीं थी ; मन्दिरका द्वारा खुला था ; द्वारा खुला रहनेके कारण ही प्रभु गर्भमन्दिरमें प्रवेश कर पाये थे। उस समय जगमोहनमें भी बहुतसे दर्शनार्थी एकत्र थे—यह भी अनुमान होता है। प्रभु भी अकेले नहीं गये ; चरितकारोंकी उक्तिसे जाना जाता है कि प्रभु अपने साथी-भक्तोंके साथ मन्दिरमें गये थे। श्रीअच्युतानन्दके मतसे पात्र-मित्रों सहित राजा प्रताप रुद्र भी उस समय वहाँ उपस्थित थे ; दर्शनार्थी यात्रीगण, प्रभुके संगीगण एवं पात्र-मित्रों सहित राजा प्रताप रुद्र भी जगमोहनमें थे (पृष्ठ १६० देखिये)। गर्भ मन्दिरमें प्रभुके प्रवेश करनेपर, जगमोहनमें इतने लोगोंकी उपस्थितिमें, विशेष करके गौर-गत-प्राण राजा प्रतापरुद्रकी उपस्थितिके समय, गर्भमन्दिरमें प्रभुको पाकर उनकी हत्या करनेका साहस किस पण्डाको हो सकता था ?

यदि मान लिया जाय कि राजा प्रतापरुद्र उस समय गुण्टिचाबाड़ीमें नहीं थे, तो भी हत्याकी बात सम्भव नहीं हो सकता। रथयात्राके समय राजा प्रतापरुद्र प्रतिवर्ष ही नीलाचलमें उपस्थित रहा करते ; रथयात्राके समय उनका अवश्य-कर्तव्य कुछ कृत्य रहा करता। घटनाके समय वे गुण्टिचाबाड़ीमें न रहें हों, तो भी नीलाचलमें तो थे ही। गौर-गत-प्राण प्रतापरुद्रके नीलाचलमें उपस्थिति-कालमें एवं गुण्टिचाबाड़ीके जगमोहनमें

बहुत लोगोंकी उपस्थितिमें गर्भमन्दिरमें प्रविष्ट प्रभुकी हत्या करनेका साहस किसी भी पण्डाको हो सके, यह सम्भव नहीं लगता। पण्डोंको भी पकड़े जानेका एवं प्राणोंका भय तो था ही।

और भी एक बात विचारणीय है। तत्कालीन नीलाचलके कोई भी व्यक्ति प्रभुको एक साधक भक्त-मात्र नहीं मानते थे, पण्डागण भी वैसा नहीं मानते थे। प्रभुके देहमें सार्वभौम भट्टाचार्य एवं राजा प्रतापरुद्रने षड़्भुज रूपका दर्शन किया था; प्रभुने और भी अनेक ऐश्वर्य प्रकट किये थे। ये बातें उस समय सभी जानते थे, पण्डागण भी जानते थे। वहांपर प्रभुको सभी भगवान्‌की तरह मानते थे। श्रीजगन्नाथके सेवक पण्डागण भी नृशंस प्रकृतिके लोग नहीं थे, नास्तिक भी नहीं थे। ऐसी अवस्थामें श्रीजगन्नाथजीके साक्षात्‌में प्रभुकी हत्या करनेकी इच्छा पण्डोंके मनमें जाग्रत हो सकती है या नहीं, इसका सुधीवृन्द विचार करें।

अब रही बात प्रभुके निहत देहको छिपानेकी। कहाँ, किस प्रकार एवं किस समयमें मृत देहको छिपाया जा सका था? स्थान-कालकी बात विचार करनेपर यह भी एक असम्भव बात-सी लगती है।

जो हो, प्रभुके तिरोभावके सम्बन्धमें अन्य एक अभिमत भी किसी-किसीने व्यक्त किया है। प्रभु एक-दो बार प्रेमावेशमें समुद्रमें कूद पड़े थे—ऐसा कोई-कोई चरितकार लिख गये हैं। इससे कोई-कोई यह अनुमान करते हैं कि किसी दूसरेके अलक्षितमें श्रीचैतन्य एक बार समुद्रमें पड़ गये थे और फिर लौटकर नहीं आये। इसी प्रसंगमें डाकटर मजुमदार महाशयने

अपने 'श्रीचैतन्यचरितेर उपादान' ग्रंथ (पृष्ट २७७) में लिखा है—"श्रीचैतन्य समुद्रमें तिरोहित नहीं हुए, यह बात डा. दीनेशचन्द्र सेन महाशयने अच्छी प्रकारसे प्रमाणित की है (भारत वर्ष, फाल्गुन, १३३५, डा. दीनेशचन्द्रसेनने 'श्रीगौराङ्गका लीलावसान' शीर्षक प्रबन्धमें श्रीचैतन्यके तिरोभावके सम्बन्धमें विभिन्न किवदन्तियोंका ऐतिहासिक मूल्य निरूपण किया है—डा. मजूमदारके ग्रन्थके पृष्ट २७७ की पाद टिप्पणी)।"

जयानन्दका चैतन्यमङ्गल—डा. मजूमदार महोदयने जयानन्दके 'चैतन्य मङ्गल' (ज. च. म) नामक एक ग्रन्थका अवलम्बन करके भी प्रभके तिरोभावका एक विवरण दिया है। इसके सम्बन्धमें कुछ आलोचना की जा रही है।

जयानन्द एवं उनका रचित चैतन्यमङ्गल वैष्णव-जगतमें सम्पूर्ण-रूपसे अज्ञात है। अन्यत्र भी वे ज्ञात नहीं थे। १३१२ बंगाब्दमें प्राच्यविद्या-महार्णव नगेन्द्रनाथ वसु महोदयके एवं कालीदास नाथ महाशयके सम्पादनमें कलकत्ताके बंगीय-साहित्य-परिषदसे जयानन्दका चैतन्यमङ्गल मुद्रित आकारमें प्रकाशित हुआ था।* इसके पश्चात् ही इस ग्रन्थने एक श्रेणीके साहित्यिकोंकी दृष्टि आकर्षित की।

डा विमान बिहारी मजुमदार महाशयने अपने 'श्रीचैतन्यचरितेर उपादान' नामक ग्रन्थ (पृष्ट २२३-२८९) में इस (ज. चै. म.) ग्रन्थकी आलोचना करके दिखाया है कि श्रीचैतन्यदेवके सम्बन्धमें अन्य चरितकारोंके द्वारा प्रदत्त

---

* आजकल जयानन्दका चैतन्यमङ्गल ऐसियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता द्वारा प्रकाशित है।

विवरणसे जयानन्दके द्वारा प्रदत्त विवरणमें अनेक पृथकता हैं। मजुमदार महाशयने 'जयानन्दके चैतन्य-मङ्गलमें भुल खवर' शीर्षकके अन्तगत विषयके आधारपर अनेक भ्रान्त विवरण लिखे हैं (चै. च. उपादान पृष्ट २३२-२४२)। उन्होंने (चौ. च. उपादानके पृष्ट २४७-२४८ में) लिखा है—"मुरारि गुप्त, कविकर्णपूर, वृन्दावनदास और कृष्णदास कविराजकी रचनामें श्रीचौतन्यके चरितका जो अपरूप सौन्दर्य परिस्फुटित हुआ है, उसका कोई भी आभास जयानन्दके चौतन्यमङ्गलमें नहीं मिलता।" आलोचनके उपसंहारमें मजुमदार महाशयने (चौ. च. उपादान पृष्ट २४९ की अन्तिम पंक्तियाँ) लिखा है—"चौतन्यमङ्गल लिखते समय जयानन्दने ऐतिहासिक अनुसन्धानकी अपेक्षा विद्या-बुद्धि और कल्पना शक्तिके ऊपर निर्भर किया है। उन्होंने अपनी धारणाके अनुसार श्रीचौतन्यके मुखसे पौराणिक कथाका विकृत उपाख्यान और वैराग्यका उपदेश कहवाया है। इसलिए मुझे लगता है कि सौलहवीं शताब्दीके मध्यभागके सामाजिक और राजनैतिक अवस्थाका कुछ विवरण उनकी पुस्तकमें मिलनेपर भी, श्रीचौतन्यके जीवनकी घटना या मर्मोद्घाटनके सम्बन्धमें उनकी उक्ति निर्भर करने योग्य नहीं है।"

चौ. च. उपादानके पृष्ट २७६-२७७ पर 'श्रीचौतन्यके तिरोभावका वर्णन' शीर्षकके अन्तर्गत मजुमदार महाशयने लिखा है—"लोचनने श्रीचैतन्यके तिरोभावका निम्नलिखित विवरण दिया है। आषाढ़ मासकी सप्तमी तिथिके दिन गुञ्जावाड़ीमें श्रीचैतन्य—

तृतीत प्रहर बेला रविवार दिने।
जगन्नाथे लीन प्रभु हइला आपने॥

चैतन्य मङ्गल शेष खण्ड पृष्ट ११६-११७

जयानन्दने बताया है—

"नीलाचले निशाए चैतन्य टोटाग्रामे।
वैकुण्ठ जाइते निवेदिल क्रमे क्रमे॥
आषाढ़ सप्तमी तिथि शुक्ला अङ्गीकार करि।
रथ पाठाइह जाब वैकुण्ठपुरी॥"१

* * * * *

"आषाढ़ बञ्चित रथ विजया नाचिते।
इटल बाजिल बाम पाए आचन्विते॥"२

* * * * *

"चरण वेदना बड़ षष्ठीर दिवसे।
सेइ लक्ष्ये टोटाय शरण अवशेषे॥
पण्डित गोसाञिके कहिल सर्वकथा।
कालि दश दण्ड रात्रे चलिब सर्वथा॥"३

उल्लिखित (चैतन्य चरितेर उपादान पृष्ठ २७६-२७७) उद्धरणके बाद मजुमदार महाशयने चै. च, उपादान, पृष्ठ २७८, पंक्ति पाँचसे लिखा है—

"श्रीचैतन्य टोटा गोपीनाथ मन्दिरमें तिरोहित हुए—यह वात जयानन्दने लिखी जरूर है; किन्तु कविराज गोस्वामी

Asiatic Society संस्करण—

१ पृष्ट २३३. पयार संख्या १३०,१३१

२ पृष्ट २३४, पयार संख्या १४४

३ पृष्ट २३४, पयार सख्या १४७,१४८

लिखते हैं कि महाप्रभु शेष द्वादश वर्ष गम्भीरामें रहे थे; गम्भीरासे टोटा गोपीनाथ बहुत दूर है और नवद्वीप-लीलामें गदाधर गोस्वामीके साथ महाप्रभुका यथेष्ट अपनापन रहनेपर भी गम्भीरा-निवास-कालमें वे राय रामानन्द और स्वरूप दामोदरके साथ ही अन्तरंग भावसे रसास्वादन किया करते। जयानन्दकी अनेक बातें विश्वास योग्य नहीं है—यह पहिले ही बताया जा चुका है, इसलिए केवलमात्र जयानन्दकी बातोंपर निर्भर करके टोटा गोपीनाथमें श्रीचैतन्यदेवका तिरोभाव स्वीकार नहीं किया जा सकता। मैं जिस प्रकार श्रीचैतन्यकी जीवन-घटनाओंका विचार करता हूँ, उससे सम-सामयिक प्रत्यक्ष-दर्शीकी बात अलौकिक होनेपर भी मैंने स्वीकार कर ली है। इसलिए श्रीचैतन्यके सम-सामयिक लेखक और श्रीचैतन्यके कृपापात्र अच्युतानन्द द्वारा प्रदत्त तिरोभावका विवरण ही सर्वापेक्षा अधिक विश्वास योग्य न होनेपर भी, सर्वापेक्षा अधिक प्रमाण्य कहना पड़ता है (अच्युतानन्दका विवरण १६० पृष्ठ पर द्रष्टव्य)।

मजुमदार महाशयने लिखा है—

"निर्दिष्ट समयका सामान्य विरोध रहनेपर भी जयानन्द और लोचनदास—दोनोंके विवरणमें तिथि और तारीखका मेल तो है ही, किन्तु तिरोभावके स्थानका मेल नहीं है। लोचनदासके मतसे गुञ्जाबाड़ीमें तिरोभाव हुआ और जयानन्दके मतसे टोटा गोपीनाथके मन्दिरमें। श्रीचैतन्य समुद्रमें तिरोहित नहीं हुए—यह बात डा. दीनेशचन्द्र सेन महाशयने भारतवर्ष पत्रिकाके फाल्गुन, १३३५ के अंकमें, 'श्रीगौराङ्गका लीलावसान' शीर्षक प्रबन्धमें विविध किंवदन्तियोंका ऐतिहासिक मूल्य निरूपण

करते हुए (चै. च. उपादान पृष्ठ २७७ की पाद टिप्पणी) अच्छी प्रकार प्रमाणित कर दी है।

अब महाप्रभुके तिरोभावके सम्बन्धमें कवि जयानन्दका क्या अभिप्राय है—उस पर विचार किया जाय। उसका विचार करनेके लिए उन्होंने इस प्रसंगमें क्या लिखा है, उसको जानना आवश्यक है। इसके लिए उनके 'चैतन्यमङ्गल' ग्रन्थका विवरण आदिसे अन्ततक यहाँ बताया जा रहा है।

पहिले अपने ग्रन्थके पृष्ठ १४९ पर कवि जयानन्दने लिखा है—"श्रीचैतन्यके प्रभावसे सब पापियोंका उद्धार हो गया। यमालयमें सूनसान देखकर यमराज मन्त्रणा करनेके लिए ब्रह्माके पास गये एवं उनसे कहा—

यमालय शून्य हइल आर पापी नाञि।
शमनेर कथाय ब्रह्मा हासेन से ठाञि॥
इन्द्र शङ्कर सङ्गे चलिला आपनि।
सकल देवता मेलि करिया धरणी॥
※ नीलाचले निशाए चैतन्य टोटाग्रामे।
बैकुण्ठे जाइते निवेदिल क्रमे क्रमे॥
※ आषाढ़ सप्तमी तिथि शुक्ला अङ्गीकार करि।
रथ पाठाइह जाब बैकुण्ठ-पुरी॥
नित्यानन्द गेला रथ यात्रार निकटे।
अद्वैतचन्द्रे रे सब कहिला निष्कपटे॥
नित्यानन्द अद्वैत अभेद एकरूप।
ना बुझिया बले लोक कलह स्वरूप॥
नित्यानन्द-अद्वैतेरे समर्पण करि।
सङ्कीर्तन-यज्ञेर सब तोमार अधिकारी॥

आटाइश वत्सर आमि नीलाचले रहि।
स्थानान्तरे जाव आमि निष्कपटे कहि॥
अनेक वैष्णव हय अनेक वैष्णवी।
सेवाकानुसेवके व्यापिया पृथिवी॥
ए बाड़ीर अधिकार पण्डित गौसाञि।
ताहार बड़ प्रिय मोर अधिक नाइ॥
श्रीहरिदास ठाकुर रहिला नीलाचले।
टोटा निर्माइञा दिल समुद्रेर कुले॥
अनेक सेवक संगे रंगे नित्यानन्द।
गौड़देशे पाठाइया दिल गौरचन्द्र॥
आषाढ़े प्रतापरुद्र निज घरे बसि।
कृष्ण-कथा अद्वैत बलेन हासि-हासि॥
नयनेर जले प्रभु तिते कौपीन डोर।
अग्नि देह[1] अन्य कथाय कृष्ण प्राण मोर॥
हरितकी काष्ठे मैला महेन्द्र भारती।
मुखे अग्नि देन तार तिन शत यति॥
हरिदास ठाकुर आगे करिल विजय।
काञ्चनेर शुक्ल चतुर्दशी रसमय॥
※ आषाढ़ बञ्चित रथ विजया नाचिते।
इटान बाजिल बाम पाय आचम्बिते॥
अद्वैत चलिला गौड़देश।
निभृते ताहारे कथा कहिल विशेष॥
नरेन्द्रेर जले सर्व पारिषद संगे।
चैतन्य करिल जलक्रीड़ा नाना रंगे॥
※ चरणे वेदना बड़ षष्ठीर दिवसे।
सेइ लक्ष्ये टोटाय शयन अवशेषे॥

---

१ अग्नि दो।

※ पण्डित गोसाञिके कहिल सर्व कथा।
कालि दश दण्ड रात्रे चलिब सर्वथा ॥
नाना वर्णे दिव्य माल्य आइला कोथा हैते।
कथो विद्याधर नृत्य करे राजपथे ॥
रथ आन, रथ आन—डाके देवगण।
गरुड़ध्वज रथे प्रभु करि आरोहण ॥
माया शरीर तथा रहिल जे पड़ि।
चैतन्य वैकुण्ठे गेला जम्बुद्वीप छाड़ि ॥
अनेक सेवक सर्प दंशाइञा मैल।
उल्कापात वज्राघात भूमि कम्प हैल ॥
(ज. च. मं. १५०) X

महाप्रभुके तिरोभावके प्रसंगमें जयानन्दके चैतन्तमङ्गलमें यही अन्त तकका विवरण है। मजुमदार महाशयने चैतन्य-चरितेर उपादान पृष्ट २७६-२७७ पर इस विवरणमें-से केवल तारक-चिह्नित पाँच पयार छन्द उद्धृत करके उन्हींके आधारपर अपना अभिमत व्यक्त किया है।

उल्लिखित विवरणसे जाना जाता है—"श्रीचैतन्यके प्रभावसे सब पापियोंका उद्धार हो जानेके कारण यमालय शून्य हो गया। इससे यमराज चिन्तित होकर ब्रह्माके पास मन्त्रणा करनेके लिए आये। इन्द्र, शङ्कर एवं सब देवताओंको लेकर (सम्भवत: यमराजको भी साथ लेकर) ब्रह्माजी निशाकालमें नीलाचल टोटाग्राममें श्रीचैतन्यके पास आये एवं उन सबने

X ये पयार छन्द एसियाटिक सोसाइटीके संस्करणमें 'उत्तर-खण्ड' में पृष्ठ २३३-२३४ पर पयार संख्या १२८-१५२ तक पाठ-भेदसे मिलते हैं।

क्रम-क्रमसे वैकुण्ठ चलनेके लिए श्रीचैतन्यसे कहा। श्रीचैतन्यने भी स्वीकार करके कहा—"आषाढ़ शुक्ला सप्तमी तिथिको तुम लोग रथ भेज देना, मैं वैकुण्ठ जाऊँगा।" इसके पश्चात् महाप्रभुने श्रीअद्वैताचार्यके पास जाकर निष्कपट सारी बातें (अपने अन्तर्धानके संकल्पकी बात भी) बता दी एवं अपने अन्तर्धानके बाद संकीर्तन-यज्ञका प्रचार किस प्रकार होगा, उसकी व्यवस्था भी कर दी।

इसके बाद रथयात्राके समय नृत्य करनेमें प्रभुके बायें चरणसे ईटकी ठोकर लग गयी। तो भी सब पार्षदोंको साथ लेकर उन्होंने नरेन्द्र सरोवरमें जल-क्रीड़ा की (सायद उस सयम उनको चरण-वेदना अधिक नहीं थी)। इसके उपरान्त षष्ठी तिथिके दिन प्रभुकी चरण-वेदना बढ़ गयी। उसीके बहाने प्रभुने टोटामें जाकर शयन किया एवं गदाधर पण्डित गोस्वामी-को सब बातें बताकर अन्तमें कहा—"कल दस दण्ड रात्रिको निश्चय जाऊँगा।"

दूसरे दिन अर्थात् शुक्ला सप्तमीको प्रभुके पूर्व कथनके अनुसार देवतागण 'रथ लाओ, रथ लाओ' पुकारने लगे एवं गरुड़ध्वज रथ आकर उपस्थित हो गया और प्रभु उसपर सवार होकर वैकुण्ठ चले गये।

इस विवरणसे स्पष्ट रूपसे जाना गया कि रथ-द्वितीयाके पूर्व ही, अर्थात् बायें चरणमें ईटके आघातके पहिले ही, देवताओंकी प्रार्थनापर किसी एक रातको महाप्रभुने आषाढ़ी शुक्ला सप्तमीके दिन अपने अन्तर्धानका संकल्प देवताओंके समक्ष प्रकट किया था एवं अद्वैताचार्यको भी बता दिया था। इसके पश्चात शुक्ला षष्ठीके दिन चरण-वेदना बढ़ जानेसे,

महाप्रभु जब गदाधर पण्डित गोस्वामीके घर गये, तब उन्होंने उनको अपने पूर्व संकल्पकी बात बतायी कि आगामी दिन अर्थात् शुक्ला सप्तमीको रात्रि दस दण्डके समय वे वैकुण्ठ चले जायँगे। इससे समझा जाता है कि प्रभुका अन्तर्धान उनका पूव संकल्पित था, यह आकस्मिक नहीं था, किसी व्याधिका फल भी नहीं था। कवि जयानन्दने अपने ग्रन्थमें 'ज्वर और दूषित-क्षतसे आक्रान्त' होनेकी एवं 'देह-रक्षाकी' कोई भी बात नहीं लिखी है। उन्होंने केवल ईंटके आघातकी (ठोकरकी) एवं आघातके चार दिन पीछे षष्ठी तिथिको वेदना-वृद्धिकी बात ही लिखी है। पैरमें ईंटकी ठोकर लगते ही क्षत (घाव) हो ही जाय, ऐसा नहीं होता है। ठोकरके फलसे पैर कट जानेसे कटे स्थानपर घाव हो सकता है और वह घाव विषाक्त द्रव्यके संयोग होनेसे दूषित घावमें परिणत हो सकता है, तब ज्वर भी हो सकता है। किन्तु यदि पैर कटे नहीं, तब दूषित घावकी संभावना भी नहीं रहती। अनेक बार देखा जाता है कि पैरमें ईंटकी या वैसे ही कोई कड़े पदार्थकी ठोकर लगनेसे पैर कटता नहीं है, किन्तु वेदनाका अनुभव होता है। अधिक चलने-फिरनेसे वह वेदना बढ़ सकती है, किन्तु वह वेदना प्राण-घातक नहीं होती, उसका प्रतिकार भी दुःसाध्य नहीं होता। प्रभुको भी वैसा ही हुआ था। शुक्ला द्वितीयाको रथ-यात्राके दिन उनके चरणमें ईंटकी ठोकर लगी, तब भी उन्होंने जल-क्रीड़ा की एवं उसके बाद चलते-फिरते भी रहे। चार दिन पीछे शुक्ला षष्ठीको पैरकी वेदना बढ़ गयीं। इससे प्राण-त्याग जैसी अवस्था नहीं हो सकती।

जो हो, कवि जयानन्दके विवरणकी पुंखानुपुंख-रूपसे आलोचना करनेसे उसका स्वरूप उद्घाटित हो सकता है एवं

तब समझमें आ सकता है कि उनका सारा विवरण ही कल्पना-प्रसूत है। विस्तार भयसे यह आलोचना नहीं की गयी है। युक्तिके लिए उसको सत्य मानकर हमने यह दिखानेकी चेष्टा की है कि जयानन्दने यह बात नहीं कही कि 'प्रभुने ज्वर और दूषित क्षतसे आक्रान्त होकर देह रक्षा की'। जयानन्दने कहा है कि देवताओंकी प्रार्थनापर प्रभुने स्वयंकी इच्छासे एवं रथयात्राके पहिले ही किसी एक रात्रिको संकल्प किया कि शुक्ला सप्तमीको वैकुण्ठ गमन करेंगे और अपने इस संकल्पके अनुसार शुक्ला सप्तमीकी रात्रि दस दण्डके समय अन्तर्धान हो गये।

जयानन्दने लिखा है कि "प्रभुका माया शरीर पड़ा रहा।" गत द्वापरमें श्रीकृष्णने अपने अन्तर्धानके पूर्व अपने द्वारका-परिकरगणको अन्तर्धापित करके उनके शरीरके अनुरूप 'माया शरीर' रख लिया था। इन माया-शरीरोंने एरका-तृण लेकर आपसमें मार-पीट करके मृत्युको वरण किया था, अर्जुनने उन्हीं माया-शरीरोंका सत्कार किया था। महाप्रभुके वैकुण्ठ-गमनके पश्चात जो माया शरीर यहाँ पड़ा रहा, वह भी क्या ऐसा ही 'माया शरीर' था ?

'प्रभु एक दिव्य-देह धारण करके वैकुण्ठ गये, उनका यथावस्थित देह पड़ा रहा'—जयानन्दने ऐसा नहीं कहा है। उन्होंने कहा है—'गरुड़ध्वज रथपर आरोहण कर' प्रभु वैकुण्ठ गये। 'प्रभु ही वैकुण्ठ गये'—यह बात ही जयानन्दने लिखी है। इससे समझा जाता है कि प्रभु स-शरीर वैकुण्ठ गये थे—यही जयानन्दका अभिप्राय है। तथापि उन्होंने जो लिखा है—"माया शरीर तथा रहिल जे पड़ि—माया शरीर वहीं पड़ा रहा",

इससे ऐसा लगता है कि श्रीकृष्णके द्वारका परिकरोंके जैसा 'माया शरीर' ही जयानन्दको अभिप्रेत है। जो अपनी इच्छासे रथ-आरोहण द्वारा वैकुण्ठ जा सकते हैं, उनका शरीर मायिक पाञ्चभौतिक नहीं हो सकता, इसे जयानन्द अवश्य ही समझते थे।

जो हो, प्रभु यदि 'माया शरीर' छोड़कर वैकुण्ठ गये, तो उनके माया शरीरका क्या हुआ? उसका क्या किसीने सत्कार नहीं किया? किया हो तो वह सत्कार-स्थान कहाँ है? उड़िस्याधिपति राजा प्रतापरुद्र जिनके पदानत थे, उनके सत्कार-स्थानके किसी चिह्नकी क्या प्रतापरुद्र एवं उनके भक्तगण यत्न पूर्वक रक्षा न करते? वास्तवमें यह 'माया शरीर' भी जयानन्दकी कल्पना मात्र है। प्रभुका देहावशेष कुछ भी नहीं था।

जो हो, उल्लिखित आलोचनाओंसे जाना गया कि प्रभुके अन्तर्धानके बाद उनका कोई देहावशेष नहीं था। प्राकृत जीवोंकी तरह उनकी मृत्यु नहीं हुई। यही श्रुति-कथित 'विमृत्युत्व' है।

घ। उल्लिखित दैहिक लक्षणादि होते हैं भगवत्-स्वरूपके साधारण लक्षण—ऊपर कथित दैहिक लक्षणादिसे जाना जाता है कि श्रीमन्महाप्रभु श्रीचैतन्यदेव जीव तत्त्व नहीं थे, वे थे ईश्वर-तत्त्व, भगवत्स्वरूप। किन्तु ईश्वर-तत्त्व होनेसे ही वे 'स्वयंभगवान्' होंगे, ऐसा नहीं है; उल्लिखित शारीरिक लक्षणादि तो किसी भी भगवत्स्वरूपमें हो सकते हैं। स्वयंभगवान्‌के ऐसे कई विशेष लक्षण हैं, जो अन्य किसी भी भगवत्स्वरूपमें नहीं होते। इन विशेष लक्षणोंमें-से

कोई भी एक लक्षण किसी भी भगवत्स्वरूपमें देखनेमें आवे तो मानना होगा कि वे स्वयंभगवान् हैं। श्रीचैतन्यदेवमें भी स्वयंभगवान्के कोई विशेष लक्षण थे या नहीं, यह अब देखना होगा।

सब विशेष लक्षण सब समय प्रकट नहीं भी हो सकते; यह देखनेमें भी नहीं आता। दो एक विशेष लक्षण देखनेमें आते ही स्वयंभगवान्का परिचय हो सकता है; क्योंकि दो एक विशेष लक्षण भी स्वयंभगवान्के अतिरिक्त अन्य किसी भी भगवत्स्वरूपमें नहीं रहते। स्मरण रखना होगा कि वस्तुका परिचय विशेष लक्षणों द्वारा होता है, सामान्य लक्षणों द्वारा नहीं। स्वयंभगवत्ताके दो विशेष लक्षण होते हैं—(१) अन्य सब भगवत्स्वरूपोंकी स्वान्तर्भुक्ति एवं (२) प्रेम-दातृत्व। इन दो विशेष लक्षणोंमें-से कोई एक भी यदि किसी भी भगवत्स्वरूपमें देखनेमें आये, तो उनकी 'स्वयंभगवत्ता' प्रमाणित हो सकती है।X

X ग्रन्थके विस्तार-भयसे इस अध्यायमें मूल ग्रन्थ 'महाप्रभु श्रीगौराङ्गके वर्तमान अध्याय ५ के शेषांकका एवं अध्याय ७ और ८ का पूरा अनुवाद न देकर, उनका सारांश परवर्ती—(१) श्रीमन्महाप्रभुका ऐश्वर्य, (२) श्रीमन्महाप्रभुकी स्वयंभगवत्ता एवं (३) श्रीमन्महाप्रभुका प्रेमदातृत्व तीन अध्यायोंमें दे दिया गया है।

श्रीमन्महाप्रभुका ऐश्वर्य

श्रीभगवान् षडैश्वर्य पूर्ण हैं। इसलिए श्रीमन्महाप्रभुका ऐश्वर्य भी उनकी भगवत्ताका स्पष्ट प्रमाण है। उनके स्वरूपमें नाना प्रकारका ऐश्वर्य शैशव अवस्थासे ही देखनेमें आता है।

(१) जब वे इतने छोटे थे कि चित्त लेटे रहते थे, करवट नहीं बदल सकते थे, उस समय उनके माता-पिताने घरमें शंख-चक्रादि चिन्ह युक्त चरण-चिन्ह देखे थे (पृष्ट १४४ पर द्रष्टव्य)।

(२) जब वे थोड़े चलने-फिरने लगे तब पिताने उनसे अपनी पुस्तक मंगायी, उस समय नूपुरकी ध्वनि सुनायी पड़ी और उनने ध्वज-पताका अंकुश युक्त पद-चिन्ह देखे। (चै. भा. आ. ३।१४४-१५५)

(३) जब वे घुटनों चलने लगे तब एक बार घरमें दौड़-भाग करते समय उन्होंने साँप पकड़ लिया और शेषशायी भगवान्‌की तरह उसपर लेट गये। अपनी ऐश्वर्य—शक्तिके कारण ही वे साँपसे क्षतिग्रस्त्र हुए बिना ऐसा करनेमें समर्थ हुए। (चै. भा. आ. ३।६७-७६)

(४) एक दिन एक तैर्थिक ब्राह्मणने जगन्नाथ मिश्रके घर आतिथ्य ग्रहण किया। अपने हाथसे भोजन बना कर भोग श्रीकृष्णको अर्पण किया और ध्यानमें बैठ कर मन्त्र जपने लगे चंचल निमाइने आकर भोजनके थालमें-से एक ग्रास निकालकर मुँहमें भर लिया। ब्राह्मणने भोजन फिरसे बनाकर श्रीकृष्णको

भोग निवेदन किया और ध्यानमें बैठ गये। निमाई फिर आकर भोग आरोगने लगा। ब्राह्मणने निमाइके बड़े भाई विश्वरूपके आग्रहपर फिर भोजन तैयार किया और घरके लोग निमाईपर चौकसी रखने लगे। निमाई निद्राका अभिनयकर सो गये। उसे सोता देख सब निश्चित हो गये। प्रभुकी प्रेरणासे जो निमाई पर पहरा दे रहे थे, उन्हें भी निद्रा आ गयी। जब तीसरी बार ब्राह्मण भगवान्‌का भोग सजाकर ध्यान करने बैठे, निमाई वहाँ जा पहुँचे। ब्राह्मण देखकर चीख पड़े—"अरे! यह फिर आगया!" निमाईने कहा—"अरे विप्र! तुम्हीं तो मेरा मन्त्र जपकर बार-बार मुझे बुलाते हो। मेरा क्या दोष है? तुम सदा मेरे दर्शनकी कामना करते हो, तो देखो, मैं वही हूँ न, जिसका तुम मन्त्र जपते हो।" इतना कह निमाईने विप्रको अपना अष्ट-भुज-रूप दिखाया, जिसमें उनके चार हाथोंमें शंख, चक्र, गदा और पद्म थे, एकमें नवनीत और एकसे वे खा रहे थे और दो-से मुरली बजा रहे थे। विप्र उनका अपूर्व ऐश्वर्य देख मूर्च्छित हो गया। चै. भ. आ. ३।२२७-३०८।

विप्र कभी भगवान्‌के चतुर्भुज रूपका, कभी द्विभुज मुरलीधारी रूपका ध्यान किया करता था। इसीलिए निमाईने उसे अपने इस संयुक्त रूपका दर्शन कराया।

(५) शिशु निमाई जब घरके बाहर जाने लगे दो चोर उनके अलंकारोंके लोभसे उन्हें उठा ले गये। उनकी ऐश्वर्य-शक्तिने चोरोंके मनमें ऐसा भ्रम उत्पन्न कर दिया कि वे घूम-फिर कर जगन्नाथ मिश्रके घरको ही अपना घर समझ वहाँ लौट आये। (चै. च. आ. १४।३५)॥

(६) एक दिन निमाईने क्रन्दन आरम्भ किया, बहुत देर तक रोते रहे, कोई चुप न करा सका; अंतमें बोले—"यदि मेरे प्राण बचाना चाहो तो जगदीश पंडित और हिरण्यके घर जाओ, आज एकादशीके दिन उन्होंने विष्णुका नैवेद्य बनाया है—वह नैवेद्य ले आओ—उसे खाकर मैं चुप होऊँगा।" जगदीश और हिरण्यको इसका पता चला तो सोचने लगे—"शिशु निमाईने कैसे जाना कि आज एकादशी है और हमारे घर विष्णु-नैवेद्यकी व्यवस्था की गयी है। निश्चय ही उसके देहमें बाल-गोपालका अधिष्ठान है।"—यह सोच उन्होंने नैवेद्य विष्णुको अर्पण करनेके बजाय उन्हें ही अर्पण कर दिया। निमाई रूपी विष्णु उसे खाकर तृप्त हुए। (चै. भा. आ. ४।१६-३३)

(७) एक दिन निमाई अपने घरके सामने बालकों सहित खेल रहे थे। उन्होंने मुरारिको उधरसे जाते देखा। मुरारि सिर और हाथ नचा-नचा कर कुछ लोगोंसे ज्ञान-चर्चा करते जा रहे थे। निमाई उनके पीछे हो लिये और उसी तरह सिर और हाथ नचा कर ताली बजा-बजाकर उनका अनुकरण करने लगे। मुरारिने यह देख कर कहा—"देखा जगन्नाथ मिश्र-के बेटेको। इसके जैसे गुण हैं वैसा ही नाम है निमाई।" तब निमाईने हँसकर कहा—"अच्छा, निमाई कैसा है—आज भोजनके समय देखना।"

मध्याह्नमें जब मुरारि भोजन कर रहे थे, निमाई सजधज कर उनके घर गये और धीरे-धीरे उनके निकट जाकर उनकी भोजन-थालीमें मूत दिया। मूतनेके पश्चात् बोले—"मुरारि! तुम बड़े मन्दबुद्धि हो। जीवको ब्रह्म मान कर और कृष्णको मिथ्या मानकर मुझे बड़ा कष्ट पहुँचाते हो, अब ऐसा न करना, ज्ञान-कर्म छोड़कर कृष्णका भजन करना।" इतना कह हठात् अंतर्धान हो गये। मुरारिको विश्वास हो गया कि

जगन्नाथ मिश्रका बेटा और कोई नहीं, स्वयंभगवान् है। उसी दिनसे ज्ञान-चर्चा छोड़ मुरारि परम भक्त हो गये। (चैतन्य मङ्गल, आदि, पृष्ठ ५१-५४) ॥

(८) एक दिन निमाईको लेकर शची माता शयन कर रही थीं। उन्होंने देखा कि दिव्य देहधारी देवगण आकर सर्वेश्वर श्रीमन्महाप्रभुकी स्तव-स्तुति कर रहे हैं। (चै. च. आ. १४।७२-७८ तथा मुरारि गुप्तका कड़चा १।६।३२-३३) ॥

(९) निमाई स्वयं भी कभी-कभी अपने बाल-चापल्यमें सहज रूपसे अपने आपको सर्वेश्वर घोषित कर देते। गङ्गातटपर जहाँ कुमारी कन्याएँ देवताकी पूजा करती होतीं वहाँ जाकर उनसे कहते—"किसकी पूजा कर रही हो ? मेरी पूजा करो, मैं वर दूँगा। लक्ष्मी, दुर्गा, महेशादि सब मेरे किंकर हैं।" (चै. च. आ. १४।४५-५८) ॥

(१०) निमाई जब निमाई पंडित हो गये और छात्रोंको पढ़ाने लगे, एक दिग्विजयी पंडित अपनी दिग्विजयका ढिंढोरा पीटता हुआ नवद्वीपमें उपस्थित हुआ। किसीका साहस न हुआ उससे शास्त्रार्थ करनेका, क्योंकि उसे सरस्वतीका वर था कि त्रिजगतमें कोई उसका मुकाबला नहीं कर सकेगा। एक दिन निमाई पंडितकी गङ्गातटपर उससे भेंट हो गयी। निमाई पण्डितने उसकी विद्वत्ताकी प्रशंसा करते हुए उससे गङ्गाजीका यश-वर्णन करनेकी प्रार्थनाकी। उसने गङ्गाजीकी प्रशस्तिमें धाराप्रवाह नये श्लोकोंकी रचना सुनायी। निमाईने उसके रचित श्लोकोंमें-से एक श्लोक बोलते हुए उसके गुण-दोष पूछे। इसपर दिग्विजयीको बड़ा आश्चर्य हुआ कि उसके नवरचित श्लोक निमाईको स्मरण हो गये। निमाई पण्डितने स्वयं उस श्लोकमें काव्य एवं व्याकरणके दोष बताकर उस दिग्विजयीको हतप्रभ कर दिया। उसे बड़ा दुःख हुआ। रात्रिमें सरस्वतीका मन्त्र

जपते-जपते वह सो गया। सरस्वतीने स्वप्नमें कहा—"विप्र ! चिन्ता न करो। जिनसे तुम्हारी पराजय हुई है वे अनन्त ब्रह्माण्डके स्वामी हैं। मत्स्य, कूर्मादि जितने अवतार हैं, सब उन्हींके अंश हैं। मेरी शक्ति उनके सामने कुछ नहीं है। तुम उनकी शरणमें जाकर अपने जीवनको धन्य करो।"

(चै. भा. आ. ८।१८-१६०)।।

(११) चैतन्य-चरितामृतमें उल्लेख है कि गया धामसे लौटनेके पश्चात् एक बार महाप्रभु कौतूहलवश एक सर्वज्ञ ज्योतिषीके पास गये और कहा—"कृपा कर बतायें, मैं पूर्व जन्ममें कौन था।" ज्योतिषीने गणना की। गणनासे जो पाया उससे विस्मित हो उसके सम्बन्धमें ध्यान किया। ध्यानसे भी उसकी पुष्टि ही हुई, तब वह स्तम्भित हो चुप बैठा रह गया। महाप्रभुके फिर पूछनेपर बोला—"पूर्व जन्ममें आप समस्त जगत्के आश्रय, परिपूर्ण भगवान् थे और अब भी वही हैं।" महाप्रभुने हँसकर कहा—"तुमने कुछ नहीं जाना, पूर्व जन्ममें मैं जातिका ग्वाला था, गायें चराया करता था। गऊ-सेवाके पुण्यके कारण इस जन्ममें ब्राह्मण हुआ हूँ।" इस प्रकार प्रभुने द्वापरमें कृष्ण रूपसे अपनी लीलाका संकेत दिया।

सर्वज्ञने कहा—"आप जो कह रहे हैं, ध्यानमें मैंने वह भी देखा। ध्यानके उस रूपको आपके इस रूपसे एकाकार देखते हुए भी मैं कुछ-कुछ अन्तर देख रहा हूँ।"

(चै. च. आ. १७।६७-१०८) ।।

(१२) गयासे लौटनेके पश्चात् महाप्रभुने संकीर्तनका प्रचार किया। घर-घर संकीर्तन होने लगा। मुसलमानोंने काजीसे शिकायत की। काजी क्रुद्ध होकर नगरमें गया। एक घरमें, जहाँ कीर्तन हो रहा था, कीर्तन करनेवालोंका मृदंग फाड़ दिया और घोषणा की कि नदियामें जो कोई कीर्तन करेगा

वह दण्डका भागी होगा, उसकी जाति नष्ट कर दी जायगी। महाप्रभुको यह संवाद मिला तो उन्होंने इसके विपरीत घोषणा करते हुए कहा—"मेरी आज्ञासे सब लोग निर्भय होकर स्वच्छन्दतापूर्वक कीर्तन करो, देखूँ काजी क्या करता है।" एक दिन वे स्वयं लक्ष-लक्ष लोगोंके साथ कीर्तन करते हुए काजीके घर पहुँचे। काजी भयसे काँपता-काँपता बाहर आया। उसने महाप्रभुसे क्षमा माँगी और रात्रिमें जो स्वप्न देखा था उसे सुनाते हुए कहा—"प्रभु, जिस दिन मैंने नगरमें कीर्तन करनेवालोंका मृदंग फाड़ा, उसी दिन रात्रिमें मैंने स्वप्न देखा कि एक नर देहधारी सिंह—जिसका देह नरके समान है और मुख सिंहके समान—भयंकर गरजना करता हुआ मेरी छातीपर चढ़ बैठा और अपने नखोंसे छाती स्पर्श करते हुए बोला—"मेरे कीर्तनको मना किया तो तेरा और तेरे वंशका नाश कर दूँगा, मृदंग फाड़नेके बदले तेरी छाती फाड़ दूँगा।" इतना कह काजीने छाती खोल कर सिंहके नखोंके चिन्ह दिखाये और नेत्रोंसे अश्रु विसर्जन करते हुए कहा—"प्रभु, मैंने जान लिया कि आप ही आये थे नरसिंहके रूपमें मेरे ऊपर कृपा करने, आप ही हैं हिन्दुओंके ईश्वर श्रीनारायण। अब आप मुझपर कृपा करें, जिससे मेरी मति आपमें बनी रहे। मैं घोषणा किये देता हूँ कि आजसे जो भी कीर्तनमें विघ्न डालेगा उसे कड़ा दण्ड मिलेगा। मेरे वंशजोंमें-से भी कभी कोई कीर्तनमें बाधा नहीं डालेगा, ऐसी मैं उन्हें शपथ दिला जाऊँगा।" (चै. च. आ. १७।११५-२१९)॥

आज भी नवद्वीपमें काजीकी समाधि वर्तमान है, जिसपर वैष्णवगण श्रद्धा-भक्ति पूर्वक पुष्पादि चढ़ाते हैं।

(१३) महाप्रभुने श्रीकृष्णकी तरह एक ही समय बहुत-से रूपोंमें प्रकट होकर भी ऐश्वर्यका प्रदर्शन किया। जिस प्रकार

रास-लीलामें श्रीकृष्णने अनेक रूप धारण किये थे और प्रत्येक गोपी समझती थी कि वे उसीके साथ नृत्य कर रहे हैं, उसी प्रकार महाप्रभुने नीलाचलमें रथ-यात्राके समय कई रूप धारण किये और जगन्नाथजीके रथके चारों ओर कीर्तन करते हुए सात सम्प्रदायोंमें-से प्रत्येकने उन्हें अपने बीच देखा और समझा कि वे उसी सम्प्रदायमें हैं, अन्य किसीमें नहीं।

(चै. च. म. १३।२८-६१) ॥

(१४) एक बार वे भक्तोंके साथ जगन्नाथजीके मन्दिरके चारों ओर घूम-घूमकर कीर्तन कर रहे थे, उस समय भी सात मंडलियाँ कीर्तन कर रही थीं और महाप्रभुने उन सातोंमें आत्म-प्रकाश किया था, प्रत्येक मंडली समझ रही थी कि महाप्रभु उसीके साथ हैं।[1] (चै. च. अन्त्य. १०।५५-५४) ॥

(१५) एक बार महाप्रभुने जगन्नाथजीके मन्दिरके पीछे कीर्तनकी चार मंडलियोंको अपने चारों ओर रहकर कीर्तन करनेका आदेश दिया। कीर्तन आरम्भ हुआ। महाप्रभुकी इच्छा हुई कि वे चारों मंडलियोंके कीर्तनकारी भक्तोंका एक साथ दर्शन करें। लीला-शक्तिने उनका ऐश्वर्य प्रकाश किया। प्रत्येक मंडलीके भक्तोंने देखा कि महाप्रभु केवल उन्हींकी ओर देख रहे हैं, वैसे ही जैसे पुलिन-भोजनके समय कृष्णके चारों

---

१. एक ही समय बहुत-से स्थानोंपर एक ही जैसे बहुत-से रूपोंके प्रकटनको 'प्रकाश' कहते हैं। प्रकाश भगवत्-स्वरूपमें ही संभव है। यह कायव्यूहसे भिन्न है, जिसका प्रकटन सौभरि ऋषि जैसी योग-शक्ति सम्पन्न जीवोंमें संभव है। काय-व्यूहमें क्रिया-साम्य होता है, प्रकाशमें क्रिया-साम्य नहीं होता।

ओर बैठे सखा देखते थे कि वे केवल उन्हींकी ओर देख रहे हैं। (चै. च. म. ११।१९६-२२३)॥

(१६) महाप्रभुका सर्वव्यापकत्व भी उनकी भगवत्ताका प्रमाण है। सर्वव्यापकत्व भगवान्में ही संभव है, जीवमें नहीं, क्योंकि भगवान् विभु हैं। महाप्रभुका सर्वव्यापकत्व इससे सिद्ध है कि वे अपने भक्तोंकी इच्छानुसार किसी समय कहीं भी उन्हें गोचरीभूत हो सकते थे। भगवान् सब समय सब स्थानोंपर अव्यक्तरूपसे वर्तमान रहते हुए सब समय गोचरीभूत नहीं होते। वे जब अपने भक्तोंपर कृपा करते हैं तभी गोचरीभूत होते हैं। इस प्रकार गोचरीभूत होनेको आविर्भाव कहते हैं। आविर्भाव नित्य भी हो सकता है सामयिक भी। महाप्रभुका चार स्थानोंमें नित्य आविर्भाव था—

(क) शची माँके घरमें—शची माँकी आज्ञासे महाप्रभु संन्यास ग्रहण करनेके पश्चात् नीलाचलमें रहते। माँ बाल-गोपालके लिए नाना प्रकारके व्यञ्जन बनाकर भोग लगातीं। भोग लगाकर प्रसादको देख कहतीं—"ये सब व्यञ्जन निमाईको कितने प्रिय थे। यदि वह होता तो भोजनकर कितना सुखी होता।" इतना कह उनके नेत्र भर आते। माँके स्नेहसे आकृष्ट हो महाप्रभु साक्षात् रूपसे वहाँ आविर्भूत हो भोजन करते। माँ उन्हें भोजन करते देखतीं। पर वास्तविक रूपसे निमाई भोजन कर रहा है, ऐसा उन्हें विश्वास न होता। वे समझतीं कि वे स्वप्न देख रही हैं या उन्हें निमाईकी स्फूर्ति हो रही है। इसका कारण यह था कि वे वात्सल्यवश निमाईके प्रति पुत्र भाव रखती, उसमें ईश्वर बुद्धि न रखतीं। यह कैसे संभव था कि उनका पुत्र, जो नीलाचलमें था, नित्य प्रति उनके

घर भोजन करता। महाप्रभु अपने उन भक्तों द्वारा जो नीलाचलसे गौड़ देशकी यात्रा करते माँको कहला भेजते कि अमुक दिन जो अमुक-अमुक प्रसादी व्यञ्जन उन्होंने खिलाये थे, उन्हें खाकर वे कितना सुखी हुए थे, तो भी माँको विश्वास न आता। (चै. च. अन्त्य. ३। २६-३६ ; १२।८५-६३) ॥

(ख) नित्यानन्दके नर्तनमें— संन्यास ग्रहणके पश्चात् जब महाप्रभु नीलाचल गये, नित्यानन्द भी उनके साथ गये। पर महाप्रभुने उन्हें प्रेमा-भक्तिका प्रचार करने गौड़ भेज दिया। फिर भी वे प्रति बर्ष महाप्रभुके दर्शन करने नीलाचल जाया करते। अंतिम बार जब वे नीलाचल गये, महाप्रभने कहा— "श्रीपाद, अब तुम बार-बार नीलाचल न आया करो। तुम्हें वहीं मेरा सग मिल जाया करेगा। जब-जब तुम नृत्य करोगे, मैं तुमारा नृत्य देखने आ जाया करूँगा।" इसलिए जब नित्यानन्द प्रेमावेशमें नृत्य करते, महाप्रभु उनके निकट आविर्भूत होते और नित्यानन्द उन्हें देखकर सुखी होते। चैतन्य-चरित्तामृतमें उल्लेख है कि राघव पंडितके घर जब नित्यानन्द प्रभुने नृत्य किया तो महाप्रभुका वहाँ आविर्भाव हुआ और नित्यानन्द उन्हें देख सके।

(चै. च. अन्त्य. ६।१००-१२४) ॥

(ग) श्रीवास पंडितके घर—संन्यासके पूर्व महाप्रभु श्रीवासके घर कीर्तनमें नृत्य किया करते। जब वे दक्षिण भ्रमण कर नीलाचल लौटे, गौड़ीय भक्तगण भी नीलाचल गये। उन्हें बिदा करते समय श्रीवास पंडितको आलिंगन कर महाप्रभुने कहा—"तुम्हारे घर कीर्तनमें मैं अब भी नित्य नृत्य किया करूँगा। तुम देख सकोगे, दूसरा कोई न देख सकेगा।" (चै. च. म. १५।४६-४७) ॥

(घ) राघव पंडितके घर—पानिहाटीमें राघव पंडित रहते थे। उनकी श्रीकृष्ण-सेवा-परिपाटीकी एक बार महाप्रभुने बड़ी प्रशंसा की थी। वे नित्य प्रति नानाविध ब्यञ्जन प्रस्तुतकर श्रीकृष्णको भोगमें अर्पण करते। महाप्रभुके लिए पृथक्से भोग लगाते। महाप्रभु भोजन करते। राघव पंडित कभी-कभी उन्हें भोजन करते हुए साक्षात् देखते।

(चै. च. अन्त्य. ६।१०६-१२४) ॥

सामयिक रूपसे भी महाप्रभुका कभी-कभी किसी भक्तपर कृपा करनेके लिए कहीं-कहीं आविर्भाव होता। दक्षिण-भ्रमणके समय महाप्रभु कूर्मक्षेत्र गये थे और कूर्म-नामके एक परम भागवत वैदिक ब्राह्मणके घर भिक्षा की थी। उसी ग्राममें वासुदेव नामके एक परम भक्त रहते थे, जिनके सर्वांगमें गलित कुष्ठ था। कूर्म विप्रके घर महाप्रभुका आगमन सुन वे भी उनके दर्शन करने गये, पर वहाँ जाकर देखा कि महाप्रभु जा चुके हैं। यह देख उन्हें इतना दुःख हुआ कि वे उसे सहन न कर सके, तत्काल मूर्च्छित हो पृथ्वीपर गिर पड़े। चेतना आनेपर वे उच्च स्वरसे विलाप करने लगे। अंतर्यामी प्रभुने उनकी आर्ति देख उनके समक्ष आविर्भूत हो उन्हें प्रेमसे आलिंगन किया। आलिंगन करते ही उनका गलित कुष्ठ जाता रहा और रूप परम सुन्दर हो गया। (चै. च. म. ७।१०८-१४७) ॥

नित्यानन्द प्रभुने एक बार पानिहाटीमें रघुनाथदास-पर कृपा कर उनके अर्थसे असंख्य भक्तोंको 'दधि-चिड़वा' भोजन कराया था। 'दधि-चिड़वा' महोत्सवके समय महाप्रभु नीलाचलमें थे। पर नित्यानन्दके ध्यानके प्रभावसे उन्होंने पानिहाटीमें अवतीर्ण होकर दधि-चिड़वा भोजन किया था। उसी दिन रात्रिमें

राघव पंडितके घर नित्यानन्दके नृत्यका दर्शन किया था और उसके पश्चात् राघव पंडित द्वारा परिवेशित प्रसाद भोजन किया था। (चै. च अन्त्य. ६।४१-१२८) ॥

आज भी भक्तगण प्रति वर्ष उसी तिथिमें पानिहाटीमें दधिचिड़वा महोत्सव बड़े समारोहसे मनाया करते हैं।

इसी प्रकार एक दिन शिवानन्द सेनके घर अवतीर्ण होकर महाप्रभुने नृसिंहानन्द ब्रह्मचारी द्वारा परिवेशित नैवेद्यका भोजन किया था। इसका हम पहले ही उल्लेखकर चुके हैं।

चैतन्य-चरितामृतमें उल्लेख है कि महाप्रभुने देश-विदेशमें भ्रमणकर या सामयिक रूपसे आविर्भूत होकर अपने दर्शन मात्रसे असख्य जीवोंका उद्धार किया। पर जहाँ वे ऐसा नहीं कर सके, वहाँ किसी योग्य भक्तमें अपना आवेश जन्माकर जीवोंका उद्धार किया। उदाहरण रूपमें चैतन्य-चरितामृतमें नकुल ब्रह्मचारीमें महाप्रभुके आवेशका उल्लेख है।

(चै. च. अन्त्य. २।११-३१) ॥

नकुल ब्रह्मचारी वर्धमान जिलेके अन्तर्गत कालनाके निकट अम्बिका नामक स्थानमें रहते थे। महाप्रभु जब नीलाचलमें रहते थे, उनमें महाप्रभुका आवेश हुआ। ग्रह-ग्रस्तके समान प्रेमाविष्ट हो वे महाप्रभकी तरह नाचने-गाने लगे। उनके-जैसे ही अश्रु-कम्पादि सात्विक भाव उनमें होने लगे। उनकी-सी ही उनकी गौर-कान्ति हो गयी और उन्हींका-सा अलौकिक प्रभाव। महाप्रभुकी तरह उनके भी दर्शन मात्रसे लोग प्रेमोन्मत्त होने लगे। (चै. च अन्त्य. २।११-३१) ॥

श्रीमन्महाप्रभुकी स्वयंभगवता

महाप्रभुके ऐश्वर्य-प्रकटनमें एक बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने अपने भक्तोंको श्रीकृष्ण, श्रीराम, नृसिंह, चतुर्भुज नारायण, लक्ष्मी, बलराम, शिव, बराह, मत्स्य, कूर्म, वामनादि सभी भगवत्-स्वरूपोंके रूपमें दर्शन दिये। इस प्रकार उन्होंने यह दिखाया कि वे केवल भगवान्के एक आंशिक अवतार न होकर अवतारी पुरुष स्वयंभगवान् हैं, जिनके अभ्यन्तरमें सभी भगवत्-स्वरूप सदा विद्यमान हैं। किन-किन भक्तोंको कब-कब, किस-किस रूपमें उन्होंने दर्शन दिये, इसका संक्षिप्त विवरण किया जा रहा है।

(१) एक बार निमाई-निताई दोनों भाई शची माँके घर एकत्र भोजन कर रहे थे। शची परिवेषणकर रही थीं। परिवेषण करते-करते वे कोई अन्य उपचार लानेके लिए गयीं। लौटकर आयीं तो देखा कि निमाई-निताई नहीं हैं। उनकी जगह पाँच वर्षके कृष्ण-बलराम भोजन कर रहे हैं। कृष्ण-बलरामके दर्शन कर वे मूर्च्छित हो गयीं। वृन्दावनदास ठाकुर और श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामी दोनोंने चैतन्य-भागवत और चैतन्य-चरितामृतमें इस घटनाका वर्णन किया है। (चै. भा. म. ८।५१-७२ ; चै. च. आ. १७।१५) ॥

(२) 'महाप्रकाश' के समय महाप्रभुने श्रीवास पंडितके घर श्रीधरको बुलाकर कहा—"श्रीधर! मेरा रूप देख।" श्रीधर कृष्णरूपमें उनके और उनके बगलमें बलरामके दर्शन कर मूर्च्छित हो गये। (चै. भा. म. ९।१६०-२४३) ॥

(३) बनमाली नामक एक भिक्षुने भी महाप्रभुके कृष्णरूपमें दर्शन किये। (कड़चा, २।११।१-६) मुरारि गुप्तके कड़चामें उल्लेख है कि एक बार महाप्रभुके घर गोपी-स्वभावाप्त उनके सभी भक्तोंने एक साथ श्रीकृष्ण रूपमें उनके दर्शन किये। (कड़चा, २।१०।१४) ॥

(४) रामचन्द्रके उपासक मुरारि गुप्तने महाप्रकाशके समय महाप्रभुके श्रीरामके रूपमें दर्शन किये। (चै. भा. म. १०।६-३२) ॥ उन्होने ही एक बार अपने घर महाप्रभुके बराह रूपमें दर्शन किये। (चै. भा. म. ३।१८-५३) ॥

(५) श्रीवास पंडित नृसिह देवके उपासक थे। एक दिन वे अपने मन्दिरमें नृसिह भगवानकी पूजामें रत थे। उसी समय महाप्रभु आविष्ट अवस्थामें उनके घर आये और मन्दिरके दरवाजेपर लात मारते हुए कहा—"ओ श्रीवासिया ! किसकी पूजा और ध्यान कर रहा है ? जिसका ध्यान कर रहा है उसे देख, वह तेरे सामने विद्यमान है।" श्रीवासकी समाधि भङ्ग हुई। उन्होंने मुड़कर देखा तो शंख-चक्र-गदा-पद्मधर प्रभु वीरासनसे बैठे सिहकी तरह गरज रहे हैं।

(चै. भा. म. २।२४०-३३८) ॥

(६) चैतन्य-चरितामृतमें उल्लेख है कि एक दिन महाप्रभु विष्णु-मंडपमें बैठे थे। उस समय उन्हें बलरामका आवेश हुआ। वे 'मधु, मधु' कह कर गरजने लगे। नित्यानन्दने उनमें बलरामका आवेश जान गङ्गा-जल लाकर दिया। गङ्गाजलका पानकर वे विह्वल हो नाचने लगे। उस समय चन्द्रशेखर आचार्यादिने बलराम रूपमें उनके दर्शन किये।

(चै. च. आ. १७।१०९-११४) ॥

कविकर्णपूरने अपने 'महाकाव्य' में लिखा है कि उस समय उनका स्वर्ण वर्ण रौप्य-पर्वतके समान धवल वर्णका हो गया। उनकी अग कान्तिसे सारा घर धवलित हो गया।

(८।२०; ८।२५) ॥

(७) एक दिन महाप्रभु अपने घर भक्तोंके साथ हरिकथा-रसमें निमग्न थे। उसी समय एक शिव भक्त भिक्षुक डमरू बजाकर शिव-महिमा कीर्तन करता हुआ उधर आ निकला। शङ्करकी महिमा सुनते-सुनते महाप्रभु शङ्कररूप हो गये। मुरारि गुप्तने कड़चामें लिखा है कि भक्तोंने उन्हें एक बड़े वृषके ऊपर आरूढ़ राम-नाम कीर्तन करते देखा। (२।११।१३-१७) ॥

(८) शंख-चक्र-गदा-पद्मधारी चतुर्भुज रूपमें महाप्रभुने कई भक्तोंको दर्शन दिये—जगाईको प्रेम-भक्ति दान करनेके पश्चात् (चै. भा. म. १३।१९३,१९४), सार्वभौम भट्टाचार्यको वेदान्त-शास्त्रकी व्याख्या प्रसंगमें तर्कमें परास्त करनेके पश्चात् (महाकाव्य, १२।३३) और काशीमिश्रको दक्षिण देश-भ्रमणसे लौटनेके पश्चात् (चै. च. म. १०।३०,३१)। श्रीवास पंडितके घर एक दिन उन्होंने भक्तोंको इस रूपमें दर्शन दिये। (चै. भा. म. २०।७८-८३,८७,८८) ॥

(९) चै. भा. मध्य खण्डके १८वें परिच्छेदमें चन्द्रशेखर आचार्यके घर महाप्रभुके द्वारा भक्तोंके साथ कृष्ण-लीलाभिनयका वर्णन है। उसे अभिनय कहना उचित नहीं लगता, क्योंकि महाप्रभुके प्रभावसे उस अभिनयमें जो पात्र अभिनय कर रहे थे, वे काष्ठपुत्तलिकावत् हो गये थे, उनके भीतर वे आवेश कर गये थे, जिनका वे अभिनय कर रहे थे। इस प्रकार अद्वैत प्रभुमें श्रीकृष्णका, महाप्रभुमें श्रीराधाका

और अन्य पात्रोंमें गोपिकाओंका प्रवेश हो गया था और दर्शकोंने कृष्ण-लीलाके अभिनयका नहीं, साक्षात् कृष्ण-लीलाका ही दर्शन किया था। श्रीकृष्ण-लीलाके पश्चात् महाप्रभुमें राधाकी जगह जगज्जननी लक्ष्मीका आवेश हो आया। लक्ष्मीके रूपमें उन्होंने मधुर नृत्य किया। उसके पश्चात् वे उसी रूपमें विष्णुके सिंहासनपर जा विराजे। भक्तोंने उनकी स्तुति की और उनमें पुत्र-रूपमें शिशु भावका उदय हो गया। उन्होंने साक्षात् जगज्जननी लक्ष्मीके रूपमें उनके दर्शन किये। वात्सल्यमयी जगज्जननीने कृपार्द्र हो उनमें-से प्रत्येकको गोदमें ले स्तन पान करा कर परितृप्त किया। (चै भा म. १८।२०१-२०६)॥ मुरारि गुप्तने अपने कड़चामें लिखा है कि महाप्रभुने जगज्जननी रूपमें जिस स्थानपर नृत्य किया, उस स्थानपर विद्युतके समान तीव्र, परन्तु चन्द्र किरणोंके समान सुशीतल तेज एक सप्ताह तक निरन्तर वर्तमान रहा। (२।१७।१-४)॥ इस लीलासे स्पष्ट है कि अन्य भगवत्-स्वरूपोंकी तरह लक्ष्मी भी स्वयंभगवान् श्रीमन् महाप्रभुके अन्तर्भुक्त हैं।

चैतन्य भागवत मध्य खण्डमें उल्लेख है कि इसी प्रकार महाप्रभुने समय-समयपर मत्स्य, कूर्म, नृसिंह, वामन, रामचन्द्र, बौद्ध, कल्कि, नन्दनन्दन आदि अवतारोंको भी अपने स्वरूपसे प्रकट कर भक्तोंको दर्शन दिये। (२५।१५३-१५५)॥ इसलिए भक्तोंको श्रीमन्महाप्रभुकी स्वयंभगवत्ताके सम्बन्धमें कोई संदेह नहीं था।

नृसिंह भगवान्के उपासक और महाप्रभुके अनन्य भक्त श्रीनृसिंहानन्द ब्रह्मचारीको भी इसमें संदेह नहीं था। पर उनके मनमें प्रत्यक्ष रूपसे यह देखनेकी वासना थी कि श्रीजगन्नाथ देव, श्रीनृसिंह देव और महाप्रभुमें कोई अन्तर नहीं है। एक

बार, जब महाप्रभु नीलाचलमें थे, उन्होंने शिवानन्द सेनके घर नाना प्रकारके व्यञ्जन तैयार कर भगवान्को भोग लगाया। जगन्नाथ देव, नृसिंह देव और श्रीमन्महाप्रभुको पृथक्-पृथक् भोग अर्पण किया। तीनोंके नामसे अलग-अलग भोग निवेदन कर वे बाहर जाकर भोगका ध्यान करने लगे। उन्होंने प्रत्यक्ष देखा कि महाप्रभु आये और तीनोंका भोग स्वयं खा गये। बाकी कुछ नहीं छोड़ा। यह देख वे आनन्दसे विह्वल हो गये। उनकी वासना पूर्ण हुई। महाप्रभुको प्रत्यक्ष जगन्नाथजी और नृसिंहदेव-का भोग आरोगते देख उनके इस विश्वासकी पुष्टि हुई कि जगन्नाथजी और नृसिंहदेव महाप्रभुसे अभिन्न हैं।

(चै. च. अन्त्य. २।६०-६२)॥

श्रीमन्महाप्रभुका प्रेमदातृत्व

स्वयंभगवत्ताका एक और विशेष लक्षण है प्रेमदातृत्व। स्वयंभगवान् श्रीकृष्णके सिवा और कोई प्रेम-दान नहीं कर सकता। प्रेमका वास्तविक अर्थ है स्वसुख-वासना शून्य, दुःख निवृत्ति-वासना शून्य, ऐश्वर्य ज्ञानहीन केवल प्रेम या अकैतव प्रेम। यह केवल व्रजमें ही है। वैकुण्ठ या द्वारका-मथुरामें इस जातिका प्रेम नहीं है। एकमात्र व्रजकी ही सम्पत्ति होनेके कारण व्रजविहारी श्रीकृष्ण ही इसे दे सकते हैं।

"सन्त्ववतारा बहवः पुष्करनाभस्य सर्वतोभद्राः।
कृष्णादन्यः को वा लतास्वपि प्रेमदो भवति॥
(ल. भा. १।३०३-धृत प्रमाण)

—पद्मनाभ भगवान्के बहुत-से अवतार हैं। वे सभी मङ्गलदाता हैं; पर कृष्णके अतिरिक्त क्या और कोई प्रेम दे सकता है? कृष्ण (केवल मनुष्यको ही नहीं) लता प्रभृति स्थावर जीव तकको प्रेम दे सकते हैं।"

स्वयंभगवत्ताका यह लक्षण श्रीमन्महाप्रभुमें समुज्ज्वल रूपसे वर्तमान था। किस प्रकार उन्होंने सार्वभौम भट्टाचार्य जैसे परम ज्ञानी और जगाई-माधाई जैसे महापापी व्यक्तियोंको अपने दर्शन और आलिंगन मात्रसे प्रेम दिया, इसका पहले ही उल्लेख आ चुका हैं। यहाँ उनके प्रेमदातृत्वके कुछ उदाहरण प्रस्तुत करेंगे।

(१) नारायणी देवीकी प्रेम-प्राप्ति—एक बार नदियामें खबर फैली कि कीर्तन करनेवाले वैष्णवोंको पकड़कर ले आनेके लिए मुसलमान राजाने दो नाव भरके सैनिक भेजे हैं। श्रीवासादि भक्तगण बहुत भयभीत हुए। उन्हें आश्वस्त करनेके लिए महाप्रभुने श्रीवाससे कहा—"तुम क्यों चिंता करते हो? मेरी शक्ति नहीं जानते क्या? यदि राजाकी नौकाएँ आयीं, तो सबसे पहले मैं नौकापर जा चढ़ूँगा। राजाके निकट जाकर उससे, उसके समस्त कर्मचारियोंसे और मुल्ला-काजी आदिसे कृष्ण नाम लिवा उन्हें रुलाऊँगा। यदि तुम्हें मेरी शक्तिमें संदेह है तो देखो मैं तुम्हें उसका दिग्दर्शन कराता हूँ।" इतना कह उन्होंने पास खड़ी चार वर्षकी श्रीवासकी भतीजी नारायणीसे कहा—"नारायणी! कृष्ण-कृष्ण कहकर रो तो।" कहनेके साथ ही उन्होंने उसमें कृष्ण-प्रेम संचारित कर दिया। वह 'हा कृष्ण! हा कृष्ण!' कह प्रेममें रोती-रोती मूर्च्छित हो गयी। उसके देहमें प्रेमोद्भूत सात्विक विकार प्रबल रूपसे फूट पड़े। (चै. भा. म. २।३०१-३२२)॥

(२) शुक्लाम्बर ब्रह्मचारीकी प्रेम-प्राप्ति—शुक्लाम्बर ब्रह्मचारीका हृदय बड़ा पवित्र था। बहुत-से तीर्थोंका वे पर्यटन कर चुके थे। पर उन्हें कृष्ण-प्रेमकी प्राप्ति नहीं हुई थी। बहुत दुःखी होकर एक दिन उन्होंने प्रभुसे कहा—"प्रभु मैं नाना तीर्थोंका पर्यटन कर चूका हूँ, फिर भी वैसाका वैसा ही हूँ, बड़ा दुःखी हूँ, मुझे कृष्ण-प्रेम प्रदान करनेकी कृपा करें।" इतना कह वे प्रभुके चरणोंमें गिर गये और कातर भावसे रोदन करने लगे। उनकी आर्ति देख प्रभुसे न रहा गया। उन्होंने कहा "जा, तुझे प्रेम दिया।" यह सुनते ही शुक्लाम्बर प्रेमसे

नृत्य करने लगे। अश्रु, पुलक आदि सात्विक भावोंसे उनका शरीर व्याप्त हो गया। (चै. मं. मध्य खण्ड, १००-१०१ पृष्ठ)॥

(३) श्रीगदाधर पंडितको प्रेम-प्राप्ति—गदाधर पंडित महाप्रभुके साथ ही सदा रहते और निरन्तर हरिनाम किया करते। एक दिन रात्रिमें, जब वे महाप्रभुके पास सो रहे थे, तब नाम-कीर्तनमें उनकी आर्ति देख महाप्रभुने कहा—"गदाधर, प्रभातमें तुम्हें प्रेम-प्राप्ति होगी।" दूसरे दिन प्रातः प्रेम प्राप्त कर गदाधर धन्य हुए। (चै. मं. मध्य खण्ड, १०१ पृष्ठ)॥

(४) मुसलमान दरजीको प्रेम-लाभ—महाप्रभु श्रीवास आँगनमें देवघरकी परिक्रमा कर रहे थे। मन्दिरके दक्षिण ओर एक महामद्यप यवन दरजी श्रीवासके कपड़े सी रहा था। महाप्रभुके दर्शन मात्रसे उसके मदके नशेपर दिव्य प्रेमका महामादकतम नशा चढ़ गया। 'मैंने देखा, देखा, क्या देखा?' कह वह उठ खड़ा हुआ और दोनों भुजाएँ उठाकर नृत्य करने लगा। उसके सर्वांगमें पुलकका उद्गम हुआ और अश्रु-जलसे वक्षःस्थल भीग गया। (चै. च. आदि १७। २२४ २२५)॥

(५) धोबीको प्रेम-दान—संन्यास ग्रहण कर गौड़देशसे नीलाचलकी यात्रा करते समय ही महाप्रभुकी इस शक्तिका विकास होने लगा था। उदाहरण स्वरूप एक धोबीकी प्रेम-प्राप्तिकी घटना उल्लेखनीय है। महाप्रभु भक्तोंके साथ नीलाचलकी ओर चले जा रहे थे। मार्गमें उन्होंने एक धोबीको देखा कपड़े धोते। उसके निकट जाकर बोले—"अरे धोबी! हरि बोल।" धोबीने समझा, कोई साधु 'हरि बोल' कह कर भिक्षा माँग रहा है। बिना सिर उठाये उसने कहा—"बाबा! मैं बहुत गरीब हूँ, भिक्षा देनेको मेरे

पास क्या है ?" महाप्रभुने कहा—"भिक्षा नहीं, केवल हरि बोल।" धोबीने सोचा—साधु हरि बोलनेको क्यों कह रहा है, अवश्य इसमें कुछ चक्कर है। उसने कहा—"बाबा ! तुम्हें तो कुछ काम-धाम है नहीं। मैं परिश्रम करके बच्चोंका पेट पालता हूँ। कपड़े धोऊँ या हरिनाम बोलूँ।" महाप्रभु बोले—"अच्छा, तू दोनों काम एक साथ नहीं कर सकता तो ला, मैं तेरे कपड़े धोता हूँ, तू हरिनाम बोल।"

धोबी यह सुनकर अवाक् ! अभी तक वह सिर नीचा किये ही बात कर रहा था, अब उसने सिर उठाया तो देखा —एक अपूर्व संन्यासी सकरुण नेत्रोंसे उसकी ओर निहार रहे हैं और उनके दोनों नेत्रोंसे अश्रुधार बह रही है। मुग्ध होकर उसने कहा—"हाँ स्वामीजी, बताइये क्या कहना है।" प्रभुने कहा—"कहो 'हरि बोल'।" धोबी 'हरि बोल' कहकर चुप हो गया। महाप्रभुने कहा—"फिर कहो—'हरि बोल'।" दूसरी बार 'हरि बोल' कहते ही धोबी बाह्य ज्ञान-शून्य हो गया। ग्रहग्रस्तकी तरह वह 'हरि बोल, हरि बोल' बोलते-बोलते विह्वल हो गया। उसके नेत्रोंसे अश्रुधार बह चली और वह दोनों हाथ उठा कर नृत्य करने लगा। महाप्रभु कुछ दूर जाकर बैठ गये और उसका नृत्य देखने लगे। भक्तोंको लगा कि जैसे धोबी एक यन्त्र है, महाप्रभु उसकी चाबी भर कर दूर जा बैठ हैं और उसका नृत्य देख रहे हैं।

थोड़ी देरमें धोबीकी स्त्री उसका भात लेकर आयी तो उसे देखकर स्तब्ध रह गयी। वह कुछ समझ न सकी। थोड़ी देरमें यूँ ही बोली—"ये नाचना कबसे सीखा ?" धोबी अपनी मस्तीमें नाचता रहा, कुछ उत्तर नहीं दिया। तब धोबिनने समझा, उसपर भूत चढ़ गया है। वह भयभीत हो गाँवके

लोगोंको पुकारने लगी। गाँववालोंने आकर देखा कि धोबी नृत्य कर रहा है और उसके मुँहसे राल टपक रही है। बीच-बीचमें उसे कम्प होता है और उसकी हुंकारसे दिशाएँ गूँज जाती हैं। यह देख सभीको भय हुआ। एक भाग्यवान व्यक्तिने साहस किया और उसे जाकर पकड़ लिया। धोबीने अर्धबाह्य अवस्था प्राप्त कर उसे आलिंगन किया। आलिंगन करते ही वह व्यक्ति भी 'हरि बोल' कहकर नाचने लगा। दोनोंका स्पर्श और जिन लोगोंको हुआ, उनमें भी प्रेमकी करेंट प्रवेश कर गयी। वे भी 'हरि बोल' कह कर नृत्य करने लगे। धोबीकी स्त्रीको भी करेंट लगी और वह भी नाचने लगी। नृत्य-कीर्तनका एक अपूर्व समारोह देख भक्तगण अति आश्चर्यान्वित हुए। (महात्मा शिशिरकुमार घोष द्वारा रचित 'श्रीअमिय-निमाइ-चरित,' खण्ड ३, अध्याय २, पृष्ट ६२-६४)॥

(६) दक्षिण देशमें प्रेम-वितरण—कविराज गोस्वामीने चैतन्य-चरितामृतमें लिखा है कि महाप्रभुने दक्षिणमें प्रेम-वितरणकी एक ऐसी शक्तिका प्रकाश किया, जिसका अपनी जन्मभूमि नवद्वीपमें भी नहीं किया था। किसीको कृष्ण-नाम उपदेश द्वारा, किसीको आलिंगन द्वारा, किसीको केवल दृष्टि द्वारा, किसीको केवल दर्शन द्वारा प्रेम-दान किया। इस प्रकार जिन लोगोंने प्रेम प्राप्त किया, उनमें ऐसी शक्तिका संचार हुआ कि उनके दर्शन मात्रसे दूसरे लोगोंमें और फिर उनके दर्शनसे अन्य लोगोंमें प्रेमका उदय हुआ। इस प्रकार उन्होंने सारे दक्षिण प्रदेशका उद्धार किया।

(चै. च. म. ७।९३-१०६)॥

(७) राय रामानन्दको प्रेम-प्राप्ति—दक्षिणकी ओर चलते-चलते महाप्रभु गोदावरीके तटपर पहुँचे। गोदावरीमें

स्नान कर वे कृष्णनाम-कीर्तन कर रहे थे, उसी समय पालकीमें बैठे राजा प्रतापरुद्रके अधीन राजमहेन्द्री प्रदेशके शासक महाभागवत राय रामानन्द बाजे-गाजे और बहुत-से वैदिक ब्राह्मणोंके साथ वहाँ आ पहुँचे। स्नान-तर्पण कर उन्होंने देखा सैकड़ों सूर्यकी-सी कान्ति विखेरते हुए महाप्रभुको कुछ दूरपर बैठे कीर्तन करते। विस्मित हो उन्होंने जाकर उन्हें प्रणाम किया। महाप्रभुने परिचय पूछा। परिचय प्राप्त कर उन्हें आलिगन किया। आलिगन करते ही महाप्रभु और रामानन्द दोनों प्रेमसे अभिभूत हो पृथ्वीपर गिर पड़े। दोनोंमें स्तम्भ, स्वेद, अश्रु, कम्प, पुलक, वैवर्ण्यादि प्रेमके विकार प्रस्फुटित हो गये। (चै. च. म. ८।८-२६) ॥

रामानन्दके साथ जितने लोग थे, उनमें भी दूरसे ही महाप्रभुके दर्शन कर और उनके मुखसे कृष्ण-नाम सुन कृष्ण-प्रेमका संचार हुआ। (चै. च. म. ८।३८-३९) ॥ महाप्रभुके नीलाचल लौटनेपर रामानन्द राजकार्य परित्याग कर नीलाचल चले गये और उनकी अंतरंग सेवामें रहने लगे।

(८) राजा प्रतापरुद्र और उनके पुत्रको प्रेम-प्राप्ति—दक्षिणसे जब महाप्रभु नीलाचल लौटे, राजा प्रतापरुद्र उनके दर्शनके लिए व्याकुल हो उठे। सार्वभौम भट्टाचार्यने उन्हें दर्शन देनेके लिए महाप्रभुसे अनुरोध किया। महाप्रभुने कहा—"संन्यासीके लिए राज-दर्शन और स्त्री-दर्शन विष-भक्षणके समान है। यदि आप बहुत आग्रह करेंगे तो मैं नीलाचल छोड़कर चला जाऊँगा।" कुछ ही दिन बाद रामानन्द नीलाचल आ गये। उन्होंने महाप्रभुसे राजाको दर्शन देनेका अनुरोध करते हुए कहा—"राजाने निश्चय किया है कि यदि मेरा

राजत्व महाप्रभुके दर्शनमें बाधक है, तो मैं राजत्व त्याग कर भिखारी बन जाऊँगा। उसपर भी यदि प्रभु इस विचारसे मुझे दर्शन न देंगे कि मैं पहले राजा था तो मैं प्राण त्याग दूँगा। प्रभु ! राजा प्रतापरुद्र राजा होते हुए भी अन्य राजाओंके समान नहीं हैं। वे विषयासक्त बिलकुल नहीं हैं। आपके चरणोंमें उनकी अपार प्रीति है और वे आपकी कृपाके योग्य हैं।"

महाप्रभुने उत्तर दिया—"दूधके कलशमें यदि एक बिन्दु सुरा पड़ जाय तो वह अस्पृश्य हो जाता है। प्रतापरुद्र सर्वगुण सम्पन्न हैं, तो भी उनका 'राजा' नाम संन्यासीसे उनके मिलनमें बाधक है। फिर भी यदि तुम्हारा इतना आग्रह है, तो मैं उनके पुत्रसे मिलकर उनकी मनोकामना पूर्ण कर सकता हूँ। शास्त्र कहते हैं 'आत्मा वै जायते पुत्रः'। इसलिए पुत्रका मुझसे मिलन राजाके मिलनके समान है।"

प्रभुका आदेश प्राप्त कर रामानन्द राजपुत्रको उनके निकट ले गये। राजपुत्रका श्याम वर्ण, कैशोर वयस, दीर्घ चंचल नेत्र, पीत वस्त्र और आभूषणादि देख महाप्रभुको कृष्ण-स्मृति हो आयी। उन्होंने कहा—"यह महाभागवत है, क्योंकि इसके दर्शनसे कृष्ण-स्मृति होती है। इसके दर्शनसे मैं कृतार्थ हुआ।" इतना कह उन्होंने उसे आलिंगन किया। आलिंगन करते ही वह कृष्ण-प्रेममें मत्त हो 'कृष्ण-कृष्ण' कह नृत्य करने लगा।

प्रेमाविष्ट राजपुत्रको लेकर रामानन्द राजा प्रतापरुद्रके पास गये। राजा पुत्रको 'कृष्ण-कृष्ण' कह नृत्य करते देख परम संतुष्ट हुए। उन्होंने स्नेहवश जैसे ही उसे आलिंगन किया,

उन्हें लगा जैसे साक्षात् महाप्रभुको आलिंगन किया और वे भी प्रेमाविष्ट हो गये। अपना आलिंगन प्रदान कर महाप्रभुने राजपुत्रमें जिस प्रेमका संचार किया था, वह प्रतापरुद्रमें भी संचारित हो गया। (चै. च. म. १२।३-६५) ॥

(६) झारिखण्डके जंगलमें पशुओंको प्रेमदान—

महाप्रभु बलभद्र भट्टाचार्य नामक एक सेवकको भक्तोंके आग्रहपर साथ ले झारिखण्डके वन-मार्गसे वृन्दावन जा रहे थे। वे बाह्यज्ञान-शून्य, प्रेमाविष्ट अवस्थामें नाम-कीर्तन करते जा रहे थे। वनमें व्याघ्र, हस्ती, शूकरादि हिंसक पशु इधर-उधर घूम रहे थे। पर वे महाप्रभुके अद्भुत प्रभावके कारण उनका पथ छोड़कर आप ही एक तरफ हो जाते थे। एक बार भट्टाचार्यने देखा कि प्रभु जिस ओर जा रहे हैं उसी ओर एक व्याघ्र सोया हुआ है। यह देख वे काँप गये। उन्होंने सोचा—महाप्रभुको तो होश है नहीं, उनका पैर अवश्य व्याघ्रसे टकरायेगा, तब क्या होगा? वे ऐसा सोच ही रहे थे कि महाप्रभुका पैर व्याघ्रसे टकरा गया। तब उन्हें थोड़ा बाह्य ज्ञान हुआ। वे 'कृष्ण-कृष्ण' कह पीछे हटे। 'कृष्ण-कृष्ण' सुन व्याघ्र उठ खड़ा हुआ और 'कृष्ण-कृष्ण' कह नृत्य करने लगा। प्रभुका चरण-स्पर्श प्राप्त कर और उनके मुखसे कृष्ण-नाम श्रवण कर व्याघ्रका समस्त कर्म-बन्धन छूट गया। वह प्रेम-लाभ कर धन्य हुआ। (चै. च. म. १७।२-२८) ॥

एक दिन महाप्रभु झारिखण्डके पथपर एक नदीमें स्नान कर रहे थे। मस्त हाथियोंका एक झुंड नदीमें जलपान करने आया। महाप्रभुने 'कृष्ण-कृष्ण' कह उनपर जलके छींटे मारे। जिन भाग्यवान हाथियोंपर छींटे पड़े वे 'कृष्ण, कृष्ण' कह

नृत्य करने लगे। कोई-कोई प्रेमाविष्ट हो चीत्कार करने लगे, कोई भूमिमें लोट-पोट होने लगे। (चै. च. म. १७।२९-३२) ॥

एक और दिन एक और भी अद्भुत घटना घटी। प्रेमोन्मत्त अवस्थामें नाम-कीर्तन करते जा रहे महाप्रभुके कण्ठकी मधुर ध्वनि सुन कुछ मृग निकट आ गये और उनके साथ चलने लगे। पाँच-सात व्याघ्र भी उसी समय आ गये और वे भी मृगोंकी तरह उनके साथ हो लिये। उन्हें देख महाप्रभुने कहा—'कृष्ण, कृष्ण' कहो। व्याघ्र और मृग 'कृष्ण, कृष्ण' कह नृत्य करने लगे। नृत्य करते-करते एक-दूसरेको आलिंगन कर एक-दूसरेका मुख चूमने लगे। यह देख कौतुकी प्रभु हँसने लगे। (चै. च. म. १७।३३-४०) ॥

कविराज गोस्वामीने लिखा है कि झारिखण्डमें महाप्रभुने स्थावर-जङ्गम सभीको कृष्णनाम सुनाकर प्रेमोन्मत्त कर दिया। जिन ग्रामोंसे होकर वे निकले, उनमें रहनेवाले सभी लोग, यहाँ तक कि जङ्गलके भील-भीलनी भी उनके मुखसे कृष्ण-नाम सुन प्रेमोन्मत्त हो गये। उन प्रेमोन्मत्त लोगोंके मुखसे जिन दूसरे लोगोंने कृष्ण-नाम श्रवण किया, वे भी प्रेमोन्मत्त हो गये। (चै. च. म. १७।४१-५१) ॥

(१०) श्रीप्रकाशानन्द सरस्वतीको प्रेम-प्राप्ति— काशीमें श्रीप्रकाशानन्द सरस्वती रहते थे। उनके पाण्डित्यसे मुग्ध हो सहस्रों संन्यासी उनके शिष्य हो गये थे। मायावादी संन्यासियोंके सर्वप्रधान नेताके रूपमें उनकी ख्याति भारतमें चारों ओर फैली हुई थी। वे भक्तिपथको विपथ—भावुकों और स्त्रियोंका पथ—मानते थे और महाप्रभुको एक भावुक युवक और इन्द्रजाली संन्यासी मानते थे, जो नाच-गाकर और इन्द्रजाल

फैलाकर लोगोंपर अपने प्रभावका विस्तार करनेकी कलामें प्रवीण है।

वृन्दावनकी यात्रासे लौटते समय महाप्रभु काशीमें रुके और एक महाराष्ट्री ब्राह्मणके घर संन्यासियोंकी सभामें प्रकाशानन्दकी उनसे भेंट हुई और शास्त्रार्थ हुआ। शास्त्रार्थमें प्रकाशानन्दकी पराजय हुई। उसी समयसे उन्होंने जान लिया कि श्रीकृष्ण-चैतन्य एक साधारण संन्यासी नहीं, कोई देव-पुरुष हैं। उनके हृदयका कल्मष भी उसी समयसे छँटने लगा, पर प्रेम-प्राप्तिमें विलम्ब हुआ, क्योंकि उनका पांडित्याभिमान बहुत अधिक था। दूसरे दिन जब उन्होंने महाप्रभुको बिन्दु-माधवके मन्दिरमें नृत्य-कीर्तन करते देखा, तो उनका काया-पलट हो गया। उनकी नृत्यमाधुरीके दर्शन करते-करते और नृत्यके समय उनकी अलौकिक रूपमाधुरीका नयन-अंजुलीसे पान करते-करते वे बाह्य ज्ञान-शून्य हो गये। उनकी पञ्चेन्द्रियाँ महाप्रभुकी पञ्चेन्द्रियोंके साथ एकीभूत हो गयीं। उनके अंग-प्रत्यंग महाप्रभुके अंग-प्रत्यंगके साथ तरगायित होने लगे। उनका हृदय भी प्रेमसे परिपूर्ण हो गया। वे भी महाप्रभुकी तरह प्रेमपूर्ण नेत्रोंसे अश्रु-विसर्जन करते हुए दोनों भुजाएँ उठाकर नृत्य करने लगे। काशीके लोग जगत्-मान्य, परमविज्ञ, परम गंभीर संन्यासी-शिरोमणिको उस संन्यासी युवकके साथ, जिसकी वे 'भावुक' और 'इन्द्रजाली' कहकर निन्दा करते थे, स्वयं भावुकोंकी तरह नृत्य करते देख आश्चर्यमें डूब गये।

(चै. च. म. १७।१००-१३६ ; २५।६-६५)॥

(११) एक कुत्तेकी प्रेम-प्राप्ति—शिवानन्द सेन प्रति वर्ष रथ-यात्राके अवसरपर गौड़ीय भक्तोंको साथ ले महाप्रभुके चरण-दर्शन करने नीलाचल जाया करते। वे ही मार्गमें सबके

वास-स्थान और आहारादिकी व्यवस्था करते। एक बार रास्तेका एक कुत्ता उनके साथ हो लिया। शिवानन्दने सोचा कि उसकी भी महाप्रभुके चरण-दर्शन करनेकी इच्छा हुई है, इसलिए उनके साथ हो लिया है। वे उसे आदर पूर्वक साथ ले चले तथा उसके आहारादिकी भी चिंता रखने लगे। एक दिन वे मार्गमें सब यात्रियोंके ठहरनेकी व्यवस्था कर स्वयं पथकर देनेके लिए घाटियाल (पथकर वसूल करनेवाला राजकर्मचारी) के पास चले गये। लौटनेमें कुछ विलम्ब हुआ। यात्री सब भोजन कर चुके थे, केवल शिवानन्द बाकी थे। उन्होंने पूछा—'कुत्तेने प्रसाद पा लिया?' उत्तर मिला—'नहीं।' आस-पास खोज की गयी। कुत्ता न मिला, तो शिवानन्दने दस आदमियोंको नियुक्त किया दूर-दूर उसकी खोज करनेके लिए। पर कोई फल न हुआ। शिवानन्दको बहुत दुःख हुआ। उस दिन वे उपवासी रहे।

जब शिवानन्द नीलाचल पहुँचे तो उसके दूसरे दिन उन्होंने देखा कि वही कुत्ता महाप्रभुके पास उनसे कुछ दूर बैठा है। महाप्रभु उसे प्रसादी नारियलकी गिरी खिला रहे हैं और हँस-हँसकर कह रहे हैं—'कृष्ण राम हरि कह।' कुत्ता गिरी खा रहा है और बार-बार 'कृष्ण, कृष्ण' कह रहा है। सब लोग यह देखकर चमत्कृत हो रहे हैं। दूसरे दिनसे उस कुत्तेको किसीने कहीं नहीं देखा। कविराज गोस्वामीका कहना है कि वह सिद्ध देह प्राप्त कर वैकुण्ठको चला गया। (चै. च. अन्त्य. १।८-२८)॥

शिवानन्द सेनके पुत्र कविकर्णपूरने अपने 'श्रीचैतन्य-चन्द्रोदय नाटक' में भी कुत्तेके इस प्रसंगका उल्लेख किया है।

महाप्रभुमें पीतवर्ण स्वयंभगवान्‌के शास्त्रकथित अन्यान्य लक्षण*

१. महाभारतोक्त लक्षण.

महाभारतके अन्तर्गत अनुशासन पर्व, दानधर्मप्रकरण विष्णुसहस्रनाम स्तोत्रमें निम्नलिखित नाम मिलते हैं—

सुवर्णवर्णो हेमाङ्गो वराङ्गश्चन्दनाङ्गदी ।।१२७।९२
संन्यासकृच्छमः शान्तो निष्ठा शान्तिः परायणम् ।।१२७।७५।।
पदच्छेद—सुवर्णवर्णः, हेमाङ्गः, वराङ्गः, चन्दनाङ्गदी ।।
संन्यासकृत्, शमः, शान्तः, निष्ठा, शान्तिः, परायणम् ।।

यहाँ श्रीविष्णुके कई लक्षणात्मक नाम उल्लिखित हुए हैं ; ये सब श्रीमन् महाप्रभुमें विद्यमान थे, यह प्रदर्शित किया जा रहा है ।

क । सुवर्णवर्णः—सुवर्णवर्ण और हेमाङ्ग—ये दो शब्द हैं । 'सुवर्ण' का अर्थ है स्वर्ण एवं 'हेम' का अर्थ भी है स्वर्ण । सुवर्णवर्ण-शब्दका एक अर्थ हो सकता है—सुवर्ण (स्वर्ण) के जैसा वर्ण है जिनका, वे सुवर्णवर्ण । हेमाङ्ग—शब्दका अर्थ भी—हेम (स्वर्ण)के जैसा अंग है जिनका, वे हेमाङ्ग । 'हेम (स्वर्ण) के जैसा अङ्ग' कहनेसे 'स्वर्णवर्ण अङ्ग' ही बताता है । 'सुवर्णवर्ण'—शब्दका यदि उल्लिखित अर्थ ग्रहण किया जाय, तो 'सुवर्णवर्ण' एवं 'हेमाङ्ग' एकार्थक हो जाते हैं ; इससे 'सुवर्णवर्ण' और 'हेमाङ्ग' दो नाम नहीं बनते ; लेकिन इन

---

* मूलग्रन्थ 'महाप्रभु श्रीगौराङ्ग' के ६वें अध्यायके अनुच्छेद १ और २

दो शब्दोंसे दो नाम सूचित हुए हैं; क्योंकि यहाँपर दो नाम स्वीकार न करनेसे सहस्रनाम पूरे नहीं होते। विशेष करके एक ही जगह एकार्थक दो शब्दोंके प्रयोगकी सार्थकता भी नहीं है; बिना मतलब द्विरुक्ति भी अभिप्रेत नहीं हो सकती। अतएव 'सुवर्णवर्ण' शब्दका उल्लिखित अर्थ ग्रहणीय नहीं है; इसका अन्य अर्थ भी हो सकता है या नहीं, यह देखना होगा।

सुवर्ण—सु (उत्तम) वर्ण। वर्ण-शब्दका अर्थ अक्षर भी होता है; 'क, ख, ग, घ' इत्यादि अक्षरोंको 'वर्णमाला—अक्षर समूह' कहा जाता है। इस प्रकार 'सुवर्ण' शब्द 'उत्तम अक्षर' बताता है। पुरुषोत्तम श्रीकृष्णके 'कृष्ण' नामके अक्षर ही 'उत्तम वर्ण' या 'उत्तम अक्षर'; क्योंकि श्रीकृष्णके अनेक नामोंमें 'कृष्ण' नाम ही श्रेष्ठ—सर्वोत्तम है। "नाम्नां मुख्यतरं नाम कृष्णाख्यं मे परन्तप। —भा. १०।८।१३ (आसन् वर्णास्त्रयो ह्यस्य—इत्यादि) श्लोककी वैष्णवतोषणी टीकाधृत प्रभास-पुराण वचन। श्रीकृष्णोक्ति।" तोषणीने बताया है—"यस्यास्य यश्च प्रथमध्यक्षरं महामन्त्रत्वेन प्रसिद्धम्।—इस नामका प्रथम अक्षर भी महामन्त्र रूपसे प्रसिद्ध है।" 'कृष्ण—इन उत्तम दो वर्णोंका वर्णन जो करें, वे ही हैं 'सुवर्णवर्ण'। सुवर्णौ वर्णयति यः सः सुवर्णवर्णः।

'कृष्णवर्णं त्विषाकृष्णम्' (भा. ११।५।३२) श्लोकके अन्तर्गत 'कृष्णवर्ण' शब्दका भी इसी प्रकारका अर्थ है (पृष्ठ ८६ एवं ८७ द्रष्टव्य)। अतएव श्रीमद्भागवतके 'कृष्णवर्णं त्विषाकृष्णम्' श्लोकके अन्तर्गत 'कृष्णवर्ण' शब्दका जो अर्थ है, महाभारतोक्त 'सुवर्णवर्ण' शब्दका भी वही अर्थ है।

इस प्रकार देखा गया कि महाभारतोक्त 'सुवर्णवर्ण'

शब्दसे श्रीकृष्णके नाम, गुण, रूपादिका वर्णन या कीर्तन जो लोग करते हैं, उससे उन्हीं श्रीकृष्णका तात्पर्य है।

'कृष्णवर्णं त्विषाकृष्णम्' श्लोकके तात्पर्यके कथन-प्रसंगमें 'कृष्णवर्ण' शब्दका तात्पर्य कविराज गोस्वामीने इस प्रकार लिखा है—

'कृष्ण' एइ दुइ वर्ण सदा जाँर मुखे।
अथवा कृष्णके तेंहो वर्णे निज सुखे॥
कृष्णवर्ण-शब्देर अर्थ दुइ त प्रमाण।
कृष्ण बितु ताँर मुखे नाहि आइसे आन॥

चै. च. आ. ३।४२-४३

श्रीमन्महाप्रभु सर्वदा ही कृष्णनाम कीर्तन किया करते, श्रीकृष्णके रूप-गुण-लीलादिका भी कीर्तन किया करते; अतएव महाभारतोक्त 'सुवर्णवर्ण' एवं श्रीमद्भागवतोक्त 'कृष्णवर्ण'—दोनों शब्दोंसे जिन लक्षणोंकी बात कही गयी है, वे लक्षण महाप्रभुमें विशेष भावसे विद्यमान थे।

ख। हेमाङ्गः—स्वर्णवर्ण अङ्ग है जिनका, वे हेमाङ्ग। श्रीमन्महाप्रभुका वर्ण स्वर्ण जैसा था, यह सभीको बिदित है। (५ क अनुच्छेद पृष्ठ १३८, १३९ पर द्रष्टव्य)।

प्रत्यक्ष ताँहार तप्त काञ्चनेर द्युति।
जाहार छटाय नाशे अज्ञान तमस्तति॥

चै. च. आ. ३।४६

यह हेमाङ्गत्व ही मुण्डक और मैत्रायणी श्रुति कथित रुक्मवर्णत्व है। 'हेमाङ्ग' शब्दसे राधाभावद्युति-सुवलितत्व—अतएव राधाकृष्ण-मिलित-स्वरूपत्व भी—सूचित होता है।

ग। वराङ्गः—वर (श्रेष्ठ) अङ्ग है जिनका, वे वराङ्ग। श्रीमन्महाप्रभु भी वराङ्ग थे। अङ्गका श्रेष्ठत्व दो प्रकारका होता है— अङ्ग-सौष्ठव आदिमें श्रेष्ठत्व एवं प्रभावमें श्रेष्ठत्व।

सौष्ठवादिमें महाप्रभुका वराङ्गत्व— श्रीश्रीचैतन्य-चरितामृतके आदि-लीलाके तृतीय परिच्छेदकी उक्ति—

चैतन्यसिंहेर नवद्वीपे अवतार।
सिंहग्रीव सिंहवीर्य सिंहेर हुङ्कार ॥२३॥

तप्तहेम समकान्ति— प्रकाण्ड शरीर।
नवमेघ जिनि कण्ठध्वनि जे गम्भीर ॥३२॥

दैर्घ्य विस्तारे जेइ आपनार हाथे।
चारि हस्त हय महापुरुष विख्याते ॥३३॥

'न्यग्रोधपरिमण्डल' हय तार नाम।
न्यग्रोधपरिमण्डल-तनु चैतन्य गुणधाम ॥३४॥

आजानुलम्बित भुज — कमललोचन।
तिलफुल जिनि नासा सुधांशु वदन ॥३५॥

अर्थ— सिंहके जैसी (सुन्दर और बलिष्ठ) जिनकी ग्रीवा है, सिंहकी तरह जिनका बल तथा प्रभाव है और सिंहके जैसी जिनकी हुंकार (गंभीर गर्जना है— ऐसे श्रीचैतन्यदेवरूप सिंहने नवद्वीपमें अवतार लिया ॥२३॥ तपाये हुए सुवर्णके समान उनकी कान्ति है, उनका विशाल शरीर है, उनकी कण्ठ-ध्वनि नवीन मेघकी गंभीर ध्वनिको पराजित करने वाली है ॥३२॥ जिनके शरीरका विस्तार (ऊँचाईमें तथा हाथ फैलानेपर चौड़ाईमें) अपने हाथसे चार हाथ हो, वे महापुरुष कहलाते

हैं ॥३३॥ ऐसे महापुरुषका नाम 'न्यग्रोध-परिमण्डल' होता है। गुणधाम श्रीचैतन्यका भी न्यग्रोध-परिमण्डल शरीर है ॥३४॥ उनकी भुजाएँ घुटनें तक लम्बी हैं, उनके लोचन कमलके समान (विशाल एवं सुन्दर) हैं, उनकी नासिका तिलके फूलसे भी अधिक सुन्दर है, उनका मुख सुधांशु (चन्द्रकी अपेक्षा भी सुन्दर एवं ज्योतिर्मय) है ॥३५॥

मुरारिगुप्तके कड़चाकी उक्ति—

"स जयत्यतिशुद्धविक्रमः कनकाभः कमलायतेक्षणः।
वरजानु विलम्बिसद्भुजो बहुधा भक्तिरसाभि नर्तकः ॥
कड़चा १।१।१

अर्थ—अति शुद्ध-विक्रम (शौर्यातिशययुक्त), स्वर्णवर्ण, कमलपत्र जैसे आयत लोचन-विशिष्ठ, जानु पर्यन्त लम्बित अति सुन्दर भुजा एवं भक्ति-रसाभिव्यञ्जक अनेक प्रकारके नर्तनमें परायण श्रीगौरसुन्दर जययुक्त होवें ॥"

महाप्रभुके नोलाचल पहुँचनेपर सार्वभौम भट्टाचार्यने प्रभुका किस प्रकार रूप-दर्शन किया था, वह सार्वभौमके वाक्यमें व्यक्त हुआ है—

"सुतप्तकाञ्चनाभासं मेरुशृङ्गमिवा परम्।
राकासुधाकराकारमुखं जलजलोचनम् ॥७॥
सुनसं कम्बुकण्ठाढ्यं महोरस्कं महाभुजम्।
बन्धुक-मुकुरारक्त-दन्तच्छदमनोहरम् ॥८॥
कुन्दाभदन्तमत्यन्त चन्द्ररस्मिजितस्मितम्।
आजानुलम्बितभुजं विलसत्पादपङ्कजम् ॥९॥
कृष्णप्रेमोज्ज्वलं शश्वत् पुलकाञ्चितविग्रहम्।
कूर्मोन्नितपदद्वन्द्वं दृष्ट्वादौ बिस्मितोऽभवत् ॥१०॥

किमसौ पुरुषव्याघ्रो महापुरुषलक्षणः।
अवतीर्ण इवाभाति वैकुण्ठाद्देवरूपधृक ॥११॥
किंवासौ सच्चिदानन्दरूपवान् रसमूर्तिमान्।
किंवासौ सर्वजीवानां हितकृदीश्वरः स्वयम् ॥१२॥

कड़चा ३।१।७-१२

अर्थ—द्वितीय सुमेरु-शृङ्गवत सुतप्त स्वर्णकी कान्ति, पूर्णिमाके चन्द्र जैसा मुख, पद्मपलास जैसे (कानों तक विस्तृत) लोचन ॥७॥ अति सुन्दर नासिका, शंखवत् रेखात्रय सम्वलित कण्ठ, विशाल वक्ष, विशाल भुजाएँ, बन्धुक पुष्पके कोरकसे सुन्दर रक्तवर्ण व मनोहर ओष्ठ ॥८॥ कुन्दकुसुम जैसी दन्तपंक्ति, मृदुमधुर हास्य पूर्णिमाके चन्द्र ज्योत्सनाको भी पराजित करनेवाला, भुजद्वय आजानुलम्बित, पादपद्म महाशोभाविशिष्ठ ॥१०॥ निरन्तर कृष्णप्रेमोज्ज्वल और पुलकित विग्रह, चरण-युगल कूर्मपृष्ठ जैसे उन्नत; सार्वभौम यह मूर्ति देखकर प्रथमतः विस्मित हुए ॥१०॥ उन्होंने सोचा—"ये महापुरुष-लक्षणवाले पुरुषव्याघ्र क्या वैकुण्ठसे देवरूपमें अवतीर्ण हुए हैं ? ॥११॥ अथवा क्या ये सच्चिदानन्द-रूपवान् साक्षात् रस विग्रह हैं ? अथवा क्या ये सब जीवोंके हितकारी स्वयं ईश्वर ही हैं ? ॥१२॥"

कविकर्णपूरके महाकाव्यके प्रथम सर्गकी उक्ति—

यस्याङ्ग श्रीमधुरिम-परीणाह पीयूषसेकै-
भास्वच्चामीकरजलमयैः शान्तनिःशेषतापैः।
यस्य श्रीमत्पदजलरुहान्मकरन्द प्रवाहैः
साक्षात् प्रक्षालितमिव जगच्छश्वदानम्यतां सः ॥२॥

जानुप्राप्त प्रसृमर भुजादण्ड मुचण्डचण्ड-
द्योत श्रेणीपटुतरमहोमण्डलीमण्डिताङ्गम् ।
आकर्णान्तः स्खलित-ललितापाङ्गमत्यन्तरज्यद्-
गण्डाभोगं मृगपतिशता क्रीड़मानं भजामः ॥३॥

यस्य श्रीमन्नखमणि सुधारश्मि रम्य प्रकाशै-
स्त्रैलोक्यान्तर्जटितजड़िमक्षालनायोन्भिषद्भिः ।
स्वीय प्रेमाम्बुधि-लहरिकापूर पूरेण भूयेः
जाड्यं चक्रे तमिह तदहो सेवतां जीवलोकः ॥४॥

यत्र श्रीमन्मधुरिममयी कान्तिरेषा जगाम
व्याहारान्तं गुरुकरुणता पूर्णतामागतासीत् ।
वैदग्धियं निखिलसुभगा हन्त निर्वाहमाप्ता
गौराङ्गस्य प्रणम तदिदं पादपाथोज युग्मम् ॥६॥

चित्रं तावद्गुणजलनिधेस्तस्य लावण्यधाम्नो
वैदग्ध्यादेर्लवमपि सुधीर्भाषितुं कः समर्थः ।
स्वीयां शक्तिं द्विगुणगुणितां चेद्विधायेषवक्तुं
शक्तः शक्तः स्वयमपि न हि श्रील गौराङ्ग चन्द्रः ॥७॥

मर्मानुवाद—

जिनके श्रीअङ्गके सौन्दर्यकी मधुरिमारूपी अमृत-सिंचन द्वारा, शान्त एवं निःशेष (सम्पूर्ण) तापसे गलित स्वर्ण सदृश जिनकी अङ्ग-कान्ति द्वारा एवं जिनके पाद-पद्मोंसे निकले हुए मकरन्द-प्रवाह द्वारा यह दृश्यमान जगत् साक्षात् भावसे नित्य प्रक्षालित होता है, मैं उन श्रीगौराङ्गदेवको नमस्कार करता हूँ ॥२॥ जिनकी दोनों मनोहर भुजाएँ जानु पर्यन्त लम्बी हैं, जिनका अङ्ग प्रचण्ड सूर्यके तेजपुंज द्वारा मण्डित है, जिनके

ललित अपाङ्ग (आँखोंके कोर) कर्ण पर्यन्त विस्तृत हैं, जिनके दोनों गण्ड (कपोल) समधिक रक्तवर्ण हैं एव जो सैकड़ों मृगपति (सिंह) की तरह क्रीड़ा परायण है, मैं उन गौराङ्गदेवका भजन करता हूँ ॥३॥ त्रिलोकके अन्तर्गत विषय-जड़ता (अज्ञान) दूर करनेके लिए उन्मीलित जिनकी नखमणिकी अमृत-रस्मिका रम्य प्रकाश त्रिजगतकी जड़ताको दूरीभूत करके पुन: जो अपनी प्रेम-समुद्र-लहरी-समूह द्वारा त्रिलोककी जड़ताका विधान किये हैं, हे जीवगण ! तुम लोग उन्हीं श्रीगौराङ्गका भजन करो ॥४॥ जिनकी कान्तिकी मधुरिमाका वर्णन असम्भव है, जिनकी महान् करुणा पूर्णताको प्राप्त हुई है एवं निखिल सुभगा (सौभाग्य-शालिनी) वैदग्धी (चतुरता) चरम सीमाको प्राप्त हुई है, उन श्रीगौराङ्गके युगल पाद-पद्मको प्रणाम करो ॥६॥ आश्चर्य है कि गुणोंके सागर, लावण्यके धाम गौराङ्गकी लीला वैदग्धीका लेशमात्र भी कौन पण्डित वर्णन कर सकता है ? श्रीगौराङ्ग स्वयं ही अपनी शक्तिको द्विगुणित करके वर्णनमें प्रवृत्त हों तो भी समर्थ होंगे या नहीं, कहा नहीं जा सकता ॥७॥

श्रीवृन्दावनदास ठाकुरने भी अपने श्रीचैतन्यभागवतके मध्य खण्डके २३वें अध्यायमें लिखा है—

जिनिञा कन्दर्प कोटि लावण्येर सीमा ।
हेन नाहि, जाहा दिया करिब उपमा ॥१७३॥
ज्योतिर्मय कनक-विग्रह वेदसार ।
चन्दने भूषित जेन चन्द्रेर आकार ॥१७५॥
चाँचर-चिकुरे शोभे मालतीर माला ।
मधुर-मधुर हासे जिनि सर्व कला ॥१७६॥
दुइ महाभुज जेन कनकेर स्तम्भ ।
पुलकेर शोभा जेन कनक-कदम्ब ॥१७९॥

सुरस अधर, अति सुन्दर दशन।
श्रुतिमूले शोभा करे भ्रूभङ्ग-पत्तन ॥१८०॥
गजेन्द्र जिनिया स्कन्ध, हृदय सुपीन।
तहिं शोभे शुक्ल यज्ञसूत्र क्षीण ॥१८१॥
उन्नत नासिका, सिंहग्रीव मनोहर।
सभा' हैते सुपीत सुदीर्घ कलेवर ॥१८३॥

अर्थ—कोटि-कन्दर्प-विजयी प्रभुका रूप था। उसमें लावण्यताकी सीमा थी। उसकी उपमा देने योग्य कोई वस्तु नहीं है ॥१७३॥ उनका ज्योतिर्मय कनक-विग्रह, वेदोंका सार-स्वरूप है। उनका चन्दन-चर्चित मुख मण्डल मानों चन्द्रका आकार है ॥१७५॥ उनके घुंघराले केशोंपर मालतीकी माला शोभा पा रही है। अपने मधुर-मधुर हास्यसे वे कलाओंके सौन्दर्य-माधुर्यको पराजित कर रहे हैं ॥१७६॥ उनकी दोनों बड़ी-बड़ी भुजाएँ मानों कनकके स्तम्भ हैं, अङ्गोंके पुलककी शोभा सुवर्ण कदम्बके पुष्पोंके समान है ॥१७८॥ अधर (लाल-लाल) सुरंग हैं, दन्त-पंक्ति अति सुन्दर है, भृकुटीका विस्तार कर्ण पर्यन्त शोभा दे रहा है ॥१८०॥ उनका स्कन्ध गजेन्द्रको परास्त करता है। उनका पुष्ट वक्षस्थल है। उसपर अति सूक्ष्म यज्ञोपवीत सुशोभित है ॥१८१॥ उनकी उन्नत नासिका है, सिंह-जैसी मनोहर ग्रीवा है, (उपस्थित) सब लोगोंसे अधिक गौरवर्ण हैं, कलेवर (शरीर) सबसे दीर्घ (ऊँचा) है ॥१८३॥

प्रभावमें महाप्रभुका वराङ्गत्व—

प्रत्यक्ष ताँहार तप्तकाञ्चनेर द्युति।
जाहार छटाय नाशे अज्ञान-तमस्तति ॥४६॥

जीवेर कल्मष-तमो नाश करिबारे।
अङ्ग-उपाङ्ग नाम नाना अस्त्र धरे ॥४७॥

भक्तिर विरोधी—कर्म-धर्म वा अधर्म।
ताहार 'कल्मष' नाम—सेइ महा-तम ॥४८॥

बाहु तुलि 'हरि' बलि प्रेम दृष्टे चाय।
करिया कल्मष नाश प्रेमेते भासाय ॥४९॥

श्रीअङ्ग श्रीमुख जेइ करे दरशन।
तार पाप क्षय हय, पाय प्रेमधन ॥५०॥

चै. च. आदि लीला, तृतीय परिच्छेद

अर्थ—तप्त काञ्चन जैसी उन महाप्रभुकी कान्ति, जिसकी छटासे अज्ञानरूप अन्धकार-समूह नाश हो जाता है, प्रत्यक्ष थी ॥४६॥ वे जीवोंके भक्ति विरोधी कर्मरूप अन्धकारको नाश करनेके लिए अङ्ग-उपाङ्ग नामक अनेक अस्त्र धारण करते हैं अथवा अङ्ग-उपाङ्ग तथा 'हरे कृष्ण' भगवन्नामादि अस्त्र धारण करते हैं ॥४७॥ भक्ति-विरोधी कर्म-धर्म (स्वर्गादि प्राप्त करानेवाले अनुष्ठान) या अधर्म (निषेध आचरण) कल्मष कहलाते हैं, वे घोर अन्धकार स्वरूप हैं अर्थात् जिस प्रकार कोई व्यक्ति महा अन्धकारमें अपने पथको नहीं देख सकता, उसी प्रकार भक्ति-विरोधी कर्मरूप कल्मष-परायण व्यक्ति भी भक्ति पथको नहीं देख सकते ॥४८॥ भुजा उठाकर महाप्रभु जब 'हरि' बोलकर जिसे भी प्रेम-दृष्टिसे देख लेते हैं, उसके समस्त कल्मष उसी क्षण नष्ट हो जाते हैं और वह प्रेम-समुद्रमें डूब जाता है ॥४९॥ उनके श्रीअङ्गका तथा श्रीमुखका जो भी दर्शन करता है, उसके पाप तत्काल नष्ट हो जाते हैं और उसे तत्काल प्रेमधनकी प्राप्ति हो जाती है ॥५०॥

स्मितालोकः शोकं हरति जगतां यस्य परितो
गिरां तु प्रारम्भः कुशल-पटलीं पल्लवयति ।
पदालम्बः कं वा प्रणयति न हि प्रेम-निवहः
स देवश्चैतन्याकृतिरतितरां नः कृपयतु ॥

श्रीरूप गोस्वामीकृत श्रीचैतन्यस्तव २।८

अर्थ—जिनके मन्द-हास्ययुक्त कृपा-कटाक्ष जगतके (जगतवासी जीवोंके) समस्त शोक सर्वभावसे हरण करते हैं, जिनके वाक्यका प्रारम्भ (सम्भाषणका उपक्रम) जगतके कल्याण-समूहका विस्तार करता है तथा जिनके चरणाश्रयसे ऐसा कौन है जिसे श्रीकृष्ण-प्रेम प्राप्ति नहीं हो सकती ? (अर्थात् सभीको प्राप्त हो सकती है), वे चैतन्याकार श्रीगौराङ्गदेव हम लोगोंपर अत्यधिक रूपसे कृपा करें ॥

पूर्व उद्धृत महाकाव्यकी उक्तियोंमें भी अङ्ग-शोभादिके साथ-साथ प्रभावमें वराङ्गत्व भी कथित हुआ है ।

घ । चन्दनाङ्गदी—

चन्दनेर अङ्गद बाला, चन्दन भूषण ।
नृत्यकाले परि करेन कृष्ण सङ्कीर्तन ॥

चै. च. आ. ३।३७

अर्थ—(श्रीकृष्णके नाम - रूप - गुण - लीलादिके कीर्तनमें) नृत्य करते समय वे (अपनी भुजाओंमें) अङ्गदके रूपमें एवं (हाथों में) कंकणके रूपमें चन्दन अंकित करते हैं ।

ङ । संन्यासकृत—जो संन्यास ग्रहण करें, वे संन्यासकृत् । महाप्रभुने संन्यास ग्रहण किया था ।

'साधक जीव भी संन्यास ग्रहण करता है। यहाँ साधक जीवकी बात नहीं कही गयी है। यहाँ 'संन्यासकृत्' है विष्णु सहस्रनामके अन्तर्गत एक नाम ; अतः भगवत्-स्वरूपके संन्यास ग्रहणकी बात ही महाभारतने कही है। ब्रह्माण्डमें अवतीर्ण होकर एकमात्र श्रीमन् महाप्रभुने ही संन्यास ग्रहण किया है, अन्य किसी भगवत्-स्वरूपने ऐसा नहीं किया।

च। शमः—श्रीगौड़ीय-वैष्णव-अभिधानमें 'शमः' शब्दका एक अर्थ लिखा है—"शमयत्यालोचयति रहस्यं हरेः—श्रीहरिका रहस्य पर्यालोचक।" श्रीमन्महाप्रभुने श्रीकृष्णके नाम-रूप-गुण-लीला-वैदग्ध्यादिकी, अर्थात् श्रीकृष्णके रहस्यादिकी बिशेष रूपसे पर्यालोचना की है।

सहस्र नाम भाष्यमें श्रीपाद शङ्कराचार्यने लिखा है—"सर्वभूतानां शमयितेति वा शमः—सब भूतोंके शमयिता (शान्ति विधानकर्ता) जो हैं, उनको 'शम' कहा जाता है।"

अशान्तिके समुद्रमें निमग्न संसारी जीवगणको बिना विचारके प्रेमदान कर महाप्रभुने उन्हें परम शान्ति प्रदान की। अतएव वे ही वास्तवमें 'सब भूतोंके शान्ति विधायक' शम हैं।

छ। शान्तः—स्थिर चित्त, अचंचल चित्त। विशेष कारणसे बाल्यकालमें समय-समयपर चंचलता प्रकाश करनेपर भी, महाप्रभुके 'रसराज-महाभाव दुइ एक रूप' स्वरूपके स्वरूपानुबन्धिनी लीलामें, अथवा किसी दूसरेके साथ विचारादिके कालमें भी महाप्रभुने सर्वदा ही अपनी स्थिर-बुद्धिका परिचय दिया है।

'शमः' शब्दका एक अर्थ होता है—बुद्धिकी श्रीकृष्ण-

निष्ठता "शमो मन्निष्ठता बुद्धेः॥ (भा. ११।१९।३६) श्रीकृष्णोक्ति ॥" ऐसा 'शम' जिनका है, वे ही होते हैं 'शान्त'। राधाभाव-विभावित-स्वरूप होनेके कारण—श्रीराधाकी बुद्धि सर्वदा जिस प्रकार श्रीकृष्णमें ही निष्ठाप्राप्त है, उसी प्रकार—महाप्रभुकी बुद्धि भी सर्व-भावसे श्रीकृष्णमें निष्ठाप्राप्त थी, श्रीकृष्णके अतिरिक्त वे और कुछ भी नहीं जानते थे। इसलिए 'शान्त' शब्दके आस्पद होते हैं महाप्रभु।

श्रीपाद शङ्कराचार्यने लिखा है—"विषय सुखेष्वसङ्गतया शान्तः—विषयसुखमें आसक्तिहीन होनेके कारण शान्त।" स्वयंभगवान् सर्वदा ही स्वसुख-वासनाशून्य होते हैं। वे जो कुछ करते हैं, अपने भक्तोंके सुखके लिए ही करते हैं, अपने सुखके लिए नहीं। "मद्भक्तानां विनोदार्थं करोमि विविधाः क्रियाः॥ पद्मपुराणमें भगवदुक्ति।" श्रीमन्महाप्रभु भी वे ही स्वयंभगवान् हैं, स्वसुख-वासना महाप्रभुमें भी नहीं थी। राधाभावावेशमें वे सर्वदा श्रीकृष्ण-सुखके लिए ही लालायित रहते थे एवं प्रकट लीलामें जीव-सम्बधीय व्यापारमें वे सबको बिना विचारके प्रेमदान करनेके लिए ही व्याकुल रहते थे। अतएव इस अर्थमें भी 'शान्त' शब्दके आस्पद वे ही हैं।

ज। निष्ठा-शान्ति-परायणः—कविराज गोस्वामीने 'निष्ठाशान्ति-परायण' शब्दके तात्पर्यमें लिखा है—"कृष्णभक्ति-निष्ठापरायण॥ चै. च. आ. ३।३६" श्रीराधा हैं अखण्ड-प्रेमभक्ति-भण्डारकी अधिकारिणी; उनके साथ एकीभूतता-प्राप्तिवश गौरकृष्ण भी अखण्ड-प्रेमभक्ति-भण्डारके अर्थात् पूर्णतम भक्तत्वके अधिकारी हुए हैं। उसमें ही उनकी कृष्णभक्ति-निष्ठापरायणता है। कृष्णभक्तिमें ऐकान्तिकी निष्ठा ही है पर

था श्रेष्ठ अयन (आश्रय) जिनका वे कृष्णभक्ति-निष्ठा परायण हैं।

श्रीपाद शङ्कराचार्यने अपने सहस्रनामस्तोत्रके भाष्यमें 'निष्ठा-शान्ति-परायण' शब्दको तीन शब्दोंके रूपमें ग्रहण किया है—निष्ठा, शान्ति एवं परायण। 'निष्ठा' शब्दका अर्थ उन्होंने लिखा है—"प्रलयकाले नितरां तत्रैव तिष्ठन्ति भूतानीति निष्ठा—प्रलयकालमें सब जीव उन्हींमें अवस्थान करनेके कारण (विष्णु) को निष्ठा कहा जाता है।" महाप्रलयके समय सूक्ष्म कर्मफलके सहित सब जीव कारणार्णवशायी पुरुषमें ही अवस्थान करते हैं। ये कारणार्णवशायी भी स्वयंभगवान् श्रीकृष्णके अंश होनेके कारण प्रलयकालके जीव-समूहके सहित श्रीकृष्णमें ही अवस्थान करते हैं। अतएव प्रलयकालमें जीव-समूहका मूल अवस्थान हुआ श्रीकृष्णमें—श्यामकृष्णमें एवं गौरकृष्णमें। इस प्रकार देखा गया कि यहाँ 'निष्ठा' शब्द भी स्वयंभगवान्‌का ही वाचक है। गौरकृष्ण महाप्रभु भी इस 'निष्ठा' शब्दके वाच्य हैं।

'शान्ति-परायण' शब्दके अर्थमें श्रीपाद शङ्कराचार्यने लिखा है—"समस्ता-विद्यानिवृत्तिः शान्तिः सा ब्रह्मैव। परमुत्कृष्टमयनं स्थानं पुनरावृत्तिशङ्कारहितमिति परायणम्। पुल्लिङ्गपक्षे बहुव्रीहिः।—सम्पूर्ण अविद्याकी निवृत्ति ही शान्ति है। यह (अविद्यानिवृत्ति-लक्षणा) शान्ति ही ब्रह्म है (क्योंकि अविद्या ब्रह्मको स्पर्श भी नहीं कर सकती)। 'परायण' शब्दका अर्थ है—उत्कृष्ट अयन या स्थान, जिस स्थानसे पुनरावृत्तिकी आशंका न रहे (यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम। गीता १५।६)। बहुव्रीहि समासमें अविद्यानिवृत्ति-लक्षण्य शान्तिका स्थान और पुनरावृत्ति शङ्कारहित स्थान जो हैं, वे ही शान्ति

परायण होते हैं। इस प्रकारके अर्थमें भी स्वयंभगवान् ही समझे जाते हैं। गौरकृष्ण महाप्रभु स्वयंभगवान् होनेके कारण इस नामके भी आस्पद हैं।

कविराज गोस्वामीने महाभारतोक्त वाक्यमें आठ ही नामकी गणना की है—सुवर्णवर्ण, हेमाङ्ग, वराङ्ग, चन्दनाङ्गदी, संन्यासकृत्, शम, शान्ति और निष्ठाशान्तिपरायण। श्रीपाद शङ्कराचार्यने 'निष्ठा' 'शान्ति' और 'परायण' को तीन नाम ग्रहण किये हैं, इसलिए उनके मतसे १० नाम होते हैं।*

२. महाप्रभु ही महाभारतोक्त नाम समूहके आस्पद हैं—

मायावादी ब्रह्मानन्द भारती जब प्रभुकी कृपासे भक्तिभावमें डूब गये एवं प्रभुके स्वरूपकी उपलब्धि कर सके, तब महाभारतोक्त 'सुवर्णवर्णो हेमाङ्गो' इत्यादि श्लोकका उल्लेख करके बोले—

"एइ सब नामेर इहों हय निजास्पद।
चन्दनाक्त प्रसादडोर श्रीभुजे अङ्गद॥

चै. च. म. १०।१६५

अर्थ—इन नामोंके आप ही तो आस्पद (स्थान) हैं। आप जगन्नाथजीकी चन्दनसे लेपित प्रसादी डोरको अङ्गदोकी भाँति भुजाओंमें धारण करते हैं।"

महाभारतोक्त 'सुवर्णवर्णो हेमाङ्ग' इत्यादि वाक्यमें श्रीविष्णुके जिन नामोंका उल्लेख हुआ है, श्रीमन्महाप्रभु ही उन सब नामोंके आस्पद हैं, इन सब नामोंकी सम्यक सार्थकता

---

* श्रीपाद दामोदर सातवलेकरने भी अपनी 'विष्णुसहस्रनाम-स्तोत्र'की टीकामें इनकी गणना १० ही की है। निर्णय-सागर प्रेस तथा गीताप्रेसके संस्करणोंमें भी इनकी गणना १० ही की गयी है। ऐसा करनेसे ही सहस्र संख्या पूर्ण होती है।

महाप्रभुमें ही है, अन्य किसी भगवत्स्वरूपमें नहीं है। इस बातका यथार्थ प्रदर्शन किया जा रहा है।

स्वयंभगवान् श्रीकृष्णके गुणकर्मानुसार बहुत-से रूप एवं बहुत-से नाम अनादिकालसे विद्यमान हैं। ये सब रूप और नाम अनन्त होनेके कारण सबकी जानकारी संभव नहीं। यह बात श्रीकृष्णके नाम-करण-प्रसंगमें गर्गाचार्यजी ही बता गये हैं—

बहूनि सन्ति नामानि रूपाणि च सुतस्य ते।
गुणकर्मानुरूपाणि तान्यहं वेद नो जनाः॥

भा. १०।८।१५

(पृष्ठ ५८ पर ग अनुच्छेदमें इस श्लोककी आलोचना द्रष्टव्य)। स्वयंभगवान् श्रीकृष्ण अनादि कालसे ही अनन्त रूपोंमें आत्म-प्रकट करके विराजित हैं, उन्हीं अनन्त रूपों और अनन्त रूपोंके अनन्त नामोंकी बात ही गर्गाचार्यजीने कही है। इन्हीं अनन्त रूपों एवं अनन्त नामोंमें एक सहस्र रूपोंके एक सहस्र नामोंका ही महाभारतके विष्णुसहस्रनाम स्तोत्रमें उल्लेख हुआ है। इन सहस्रनामोंमें प्रधान-प्रधान नामोंका ही उल्लेख हुआ है, यह मान्यता स्वाभाविक है। मुण्डकश्रुति एवं मैत्रायणी श्रुतिमें जिन रुक्मवर्ण (स्वर्णवर्ण या पीतवर्ण) स्वयंभगवान्‌की बात कही गयी है, वे रुक्मवर्ण स्वयंभगवान् हैं सर्वव्यापक परब्रह्म विष्णुका एक असाधारण विशिष्ठ रूप; क्योंकि, परब्रह्म श्रीकृष्णकी तरह ये रुक्मवर्ण पुरुष भी हैं—ब्रह्मयोनि, स्वयंभगवत्स्वरूप (क अनुच्छेद पृष्ट ६८ पर द्रष्टव्य)। श्रीकृष्णका अन्य कोई भी स्वरूप स्वयंभगवान् नहीं है। अतएव इस रुक्मवर्ण स्वरूपका नाम ही सहस्रनाम स्तोत्रमें उल्लेख हुआ है, यह मान्यता स्वाभाविक है।

सहस्रनामस्तोत्रमें 'हेमाङ्ग' शब्दमें इस रुक्मवर्ण स्वरूपकी बात ही कही गयी है। श्रीपाद शङ्कराचार्यने भी यह बात स्वीकार की है। 'सुवर्णवर्णो हेमाङ्ग' इत्यादि श्लोकके भाष्यमें उन्होंने मुण्डक श्रुति (३।१।३) के 'यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णम्' इत्यादि वाक्य उद्धृत किये हैं। पहिले ही (पृष्ठ ८६ से ११७ तक क अनुच्छेदमें) बता दिया गया है कि गौराङ्गी श्रीराधाके प्रति-गौर अंग द्वारा अपने प्रति-श्याम अङ्गमें आच्छादित होकर ही श्यामकृष्ण गौरकृष्ण—रुक्मवर्ण या पीतवर्ण स्वयंभगवान्—हुए हैं। उनके हेमाङ्गत्वका हेतु है श्रीराधाके सहित एकीभूतता। अन्य कोई भी भगवत्-स्वरूप श्रीराधाके सहित एकीभूत होकर, 'रसराज महाभाव दुइ एकरूप' होकर हेमाङ्ग नहीं हुए हैं। अतएव महाभारतोक्त 'हेमाङ्ग' शब्दके आस्पद एकमात्र महाप्रभु गौरकृष्ण ही हैं, और कोई भगवत्-स्वरूप नहीं है।

श्रीराधा हैं अखण्ड-प्रेमभक्ति-भण्डारकी आश्रय या अधिकारिणी। श्रीराधाके साथ एकीभूत होनेके कारण हेमाङ्ग स्वयंभगवान् गौरसुन्दर भी अखण्ड-प्रेमभक्ति-भण्डारके आश्रय या अधिकारी हुए हैं; अतएव वे पूर्णतमभक्तभावमय हैं। भक्तभावमय होनेके कारण भक्तके जैसे सब आचरण उनमें देखनेमें आते हैं; श्रीभगवद्विग्रहके सामने नृत्य-गीत, स्तव-स्तुति, प्रणाम आदिसे महाप्रभुने अपना यह भक्तभाव प्रकट किया है। अन्य किसी भी भगवत्-स्वरूपमें यह देखनेमें नहीं आता। भक्तभावमय होनेके कारण ही सर्वदा श्रीकृष्णके नाम-गुण-लीलादि कीर्तन करके महाभारतोक्त 'सुवर्णवर्णत्व' एवं श्रीमद्भागवतोक्त 'कृष्णवर्णत्व' प्रकट किया है। अन्य किसी भगवत्-स्वरूपमें यह दृष्ट नहीं होता; अतएव महाभारतोक्त 'सुवर्णवर्ण' शब्दके आस्पद वे ही हैं, अन्य कोई भी भगवत्-स्वरूप नहीं है।

महाभारतोक्त 'वराङ्ग' शब्दके आस्पद भी महाप्रभु ही हैं, अन्य कोई भगवत्-स्वरूप नहीं ; क्योंकि पृष्ठ २२१ से २२८ तकमें प्रभावमें वराङ्गत्व-सम्बन्धमें जो कहा गया है, वह अन्य कोई भी भगवत्-स्वरूपमें देखनेमें नहीं आता, अन्य किसी भी भगवत्-स्वरूपके अंग-प्रत्यंगके दर्शन मात्रसे प्रेम-प्राप्ति नहीं होती।

'चन्दनाङ्गदी' शब्दके आस्पद भी एकमात्र महाप्रभु ही हैं, अन्य कोई भी भगवत्-स्वरूप नहीं, क्योंकि अन्य कोई भी भगवत्-स्वरूप संकीर्तनमें नृत्य नहीं करते एवं नृत्यकालमें चन्दनके अङ्गदादि भी धारण नहीं करते, चन्दनाक्त प्रसादी वस्त्र भी अङ्गादिके रूपमें धारण नहीं करते।

'संन्यासकृत्' शब्दके आस्पद भी एकमात्र महाप्रभु हैं, अन्य कोई भगवत्-स्वरूप नहीं ; क्योंकि ब्रह्माण्डमें अवतीर्ण होकर अन्य किसी भी भगवत्-स्वरूपने संन्यास ग्रहण नहीं किया, एकमात्र महाप्रभुने ही संन्यास ग्रहण किया।

'शम' शब्दका जो अर्थ पृष्ठ २२९ पर वर्णन हो चुका है, उस अर्थमें 'शम' शब्दके वाच्य भी एकमात्र महाप्रभु ही हैं, अन्य कोई भी भगवत्-स्वरूप नहीं, क्योंकि ब्रह्माण्डमें अवतीर्ण होकर अन्य किसी भी भगवत् स्वरूपने श्रीकृष्णके नाम, गुण, लीला, वैदिग्ध्यादिके रहस्यकी पर्यालोचना नहीं की, बिना विचारके प्रेम-दान करके जीवोंकी परम शान्तिका भी विधान नहीं किया।

'शान्त' शब्दके आस्पद भी महाप्रभु ही हैं, अन्य कोई नहीं है, क्योंकि श्रीराधाकी तरह कृष्णनिष्ठ-बुद्धि राधाकृष्ण-मिलित-स्वरूप गौरसुन्दरके अतिरिक्त अन्य किसी भी भगवत्-स्वरूपमें नहीं हो सकती।

'निष्ठा-शान्ति-परायण' शब्दके आस्पद भी महाप्रभु ही हैं, अन्य कोई भी भगवत्-स्वरूप नहीं, क्योंकि राधाकृष्ण-मिलित-स्वरूप होनेके कारण गौरसुन्दर ही 'कृष्णभक्ति-निष्ठापरायण' हो सकते हैं। राधाकृष्ण-मिलितस्वरूप न होनेके कारण अन्य कोई भी भगवत्-स्वरूप इस प्रकार 'कृष्णभक्ति-निष्ठापरायण' भक्तभावमय आचरणशील नहीं हो सकते। श्रीपाद शङ्कराचार्यके अर्थमें भी 'निष्ठा', 'शान्ति' एवं 'परायण'—तीनों शब्दोंसे स्वयंभगवत्ता ही सूचित हुई है; श्यामकृष्ण एवं गौरकृष्णके अतिरिक्त अन्य कोई भी भगवत्-स्वरूप स्वयंभगवान् नहीं हैं—अतएव 'निष्ठा', 'शान्ति' एवं 'परायण' तीनों शब्दोंके आस्पद भी वे नहीं हो सकते।

इस प्रकार देखा गया कि महाभारतोक्त नामोंके आस्पद एकमात्र श्रीमन्महाप्रभु ही हैं।

परिशिष्ट

(इस ग्रन्थके पृष्ठ १४० की पाद टिप्पणीसे सम्बन्धित टिप्पणी)

श्रीराधागोविन्द नाथने पुरीमें श्रीजगन्नाथ-मन्दिरके भीतर एक छोटे-से मन्दिरमें सुरक्षित महाप्रभुजीने पद-चिह्नोंकी लम्बाई प्रायः १६ इञ्च लिखी है, वह शायद पद-चिह्नोंके ऊपर चन्दन लगाकर कपड़ेपर छपवायी जाती है, उसके आधारपर लिखी होगी। गीला चन्दन फैलनेसे कपड़ेपर उसकी छाप कहीं लम्बी हो जानी स्वाभाविक है और कहीं छोटी रह जानी स्वाभाविक है। कपड़ेपर-की छापकी लम्बाई १२½ इञ्चसे १४ तक भी देखनेमें आयी है। केवल चरण-चिह्नोंको नापनेपर एड़ीसे अंगुष्ठ तकका नाप १३ इंच है और तरजनी अंगुली अंगुष्ठसे बड़ी होनेके कारण एड़ीसे तरजनी तकका नाप १३½ इञ्च पाया गया है। अनुवादकके पदतलकी लम्बाई एड़ीसे अंगुष्ठ तक ८½ इञ्च है, पूरे शरीरकी लम्बाई ६३ इञ्च है, हाथकी लम्बाई कोहनीसे मध्यमा तक १८ इञ्च है।

'गरुड़-स्तम्भके साथ एक ही स्थानपर खड़े होकर दीर्घकाल तक श्रीजगन्नाथजीके दर्शन करनेसे उस स्थानपर चरण-चिह्न बन गये'—इसके बारेमें श्रीजगन्नाथ-मन्दिरके रिसर्च स्कॉलर श्रीसदाशिव रथ शर्मा शास्त्रीके द्वारा ज्ञात हुआ है कि मन्दिरकी पंजीमें उल्लेख है कि एक बार जन्माष्टमी तिथिके दिन श्रीचैतन्यदेव श्रीजगन्नाथजीके दर्शन करते समय 'हरे कृष्ण' कहकर अचेतन हो गये थे, गिरते समय अपने बाँयें हाथकी तीन अंगुलियोंसे अपनेको रोक लिया और मुँहसे नाम-उच्चारण

करते रहे, शरीर भावावेशमें हो गया था, ४ घड़ी तक निश्चल रह गये, सन्ध्यासे रात ८$\frac{1}{2}$ बजे तक इस अवस्थामें रहे। गोपीनाथ पट्टनायकने उनको सचेत किया, तब उनकी जागृत अवस्था हुई। गोपीनाथ आचार्य, कनाञ्गि खूंटिया, परिछा मारकण्डेय कवीन्द्र आदि मन्दिरके विशिष्ट अधिकारियोंने देखा कि दीवालमें ३ अंगुलियोंका चिह्न पड़ गया है और ठीक नीचे दोनों पद-चिह्न मकराना पत्थरपर पड़ गये हैं। सबने साक्षात्‌में परीक्षण किया। युवराज जेनामणि, वीरभद्रदेव, प्रहराज महापात्र (जीवदेव) ने परीक्षा करके अंगुली चिह्नों और पद-चिह्नोंकी जगमोहनमें सावधानीसे सुरक्षाकी व्यवस्थाकी उड़िया भाषामें घोषणा की—

"अे चैतन्य महाप्रभुकं भावावेश इ फल पथर तरलि छि, अेहाकु केहि न माड़िबे, अे पवित्र पाद अंगुलि चिह्न कु जाग्रत रे रखाउब।"

हिन्दी अर्थ—

"यह चैतन्य महाप्रभुके भावावेशका प्रतीक, महाभावका स्वरूप, जिसमें पत्थर गल गया, उसको कोई पैर नहीं लगायगा, पवित्र-पद-चिह्न और अंगुली-चिह्नकी सावधानीसे रक्षा की जाय।"

महाराजा प्रतापरुद्र गजपतिके आदेशके अनुसार शकाब्द १४४६ भाद्र शुक्ल द्वादशीसे यह सुरक्षाकी व्यवस्था हुई थी। दर्शकोंकी वृद्धिके कारण पाद-चिह्नोंकी सुरक्षा परवर्तीकालमें असंभव-सी हो जानेके कारण रामचन्द्र देवने सन् १५६८ से १६०२ तक वर्धन राजगुरुके आदेशसे केवल पद-चिह्नके पत्थरको उठाकर सुआर साहिको गोविन्द पाटछता महापात्रके

मारफत दे दिया। पूर्व तरफ श्रीचैतन्यदेव मन्दिरमें वह पाद-चिह्न एक काष्ठासनपर विराजित रहा था और वैष्णव भक्तोंको बाहरसे दर्शन करने दिया जाता था। बादमें श्रीरामदास बाबाजी महाराजने उस पाद-प्रस्तरको लेकर मुकुन्ददेव राजा तथा सूर्यमणि पाट महादेईके राजत्व कालमें सन् १९२६ होली पूर्णिमाके समय वर्तमान मन्दिर निर्माण करके पद-चिह्नोंको श्रीचैतन्य-मन्दिरसे लेकर उस नये मन्दिरमें स्थापित किया। दाहिना चरण एड़ीसे अंगुली तक १३ इञ्च, बायां चरण एड़ीसे अंगुली तक १२$\frac{1}{2}$ इञ्च है।

पुरीके स्थापित गोविन्द महापात्रने सन् १९२६ में उस चरण-चिह्नको प्रस्तर मकराना पत्थरके बने पद्मके ऊपर बैठाया था। उनके विवरणसे यह भी पता लगा है कि जब पाद-प्रस्तर बैठाया गया था, तब उसकी गहराई इतनी नहीं थी, एक ओर ऊँचा था और दूसरी ओर नीचा था, तब प्रस्तरको साफ करके थोड़ा गहरा बादमें किया गया, किन्तु मन्दिरके कागजातसे यह जानकारी उपलब्ध होती है कि यही मौलिक पद-चिह्न है। जाणपिटा मठके वैष्णव लोग इसकी सेवा कर रहे हैं।

कटक गड़बडड़िया घाट तथा अठारह नालापर भी श्रीचैतन्यके पद-चिह्न हैं।